मूल्य—आठ आना

प्रकाशक :
क्षितीन्द्रमोहन मित्र,
माया कार्यालय,
इलाहाबाद।

मुद्रक :
धीरेन्द्रनाथ घोष,
माया प्रेस,
इलाहाबाद।

विशाल देव

अपनी धार्मिक सभा के लिए एक नया भाषण तैयार कर मिसेज़ रेडिच पति के पास आ कर बैठ गईं। वे आज प्रसन्न थीं। व्याख्यान खूब अच्छा रहेगा। उनके पति, इंजीनियरिंग-विभाग के प्रधान, मिस्टर नाटिंघम रेडिच उस समय बरामदे की धूप में बैठे हिमालय की ओर बनाई जाने वाली नई मोटर-सड़क की फ़ाइल देख रहे थे। अपने सहकारी इंजीनियर की, जो सड़क का निर्माण कर रहे थे, इस आशय की रिपोर्ट पढ़ कर वे खूब हँसे : "हिमालय के इस प्रदेश में अन्ध-विश्वास अब भी अपना बहुत प्रभाव जमाए है। चट्टान के अब तक न कट सकने का कारण यह अन्ध-विश्वास भी है। यहाँ पर प्रत्येक पहाड़ और चट्टान पर किसी न किसी देव या दानव की स्थिति मानी जाती है। इस चट्टान के निकट भी, जिसके कारण अब तक दो सौ मील लम्बी बिल्कुल तैयार सड़क पर मोटर का आना सम्भव नहीं हो सका है, एक देवी का मन्दिर है। पहाड़ी कुलियों का ऐसा विश्वास है, कि जब तक उस देवी की सन्तुष्टि न होगी, चट्टान न कटेगी और मोटर का इस ओर आना सम्भव न होगा।"

"बीसवीं शताब्दी में भी ऐसी ऊल-जलल बातों पर विश्वास किया जाता है ?"—पत्नी ने कहा।

मिस्टर रेडिच बोले—"मूर्खता की हद है, अपनी अकर्मण्यता को छिपाने का एक असम्भव प्रयत्न ! मुझे इस इंजीनियर की बुद्धि पर तरस आता है। कुलियों का अन्ध-विश्वास इसके लिए ऐसा महत्वपूर्ण है !"

मिसेज़ रेडिच ने कहा—"और एक ईसाई को क्या ऐसी प्रागैतिहासिक नास्तिकता पर विश्वास करना चाहिए ? इंजीनियर मेसन एक ईसाई हो कर भी ऐसी ऊटपटाँग बातों पर विश्वास करते हैं !"

मिस्टर रेडिच फ़ाइल देख कर बोले—"और देखो, आगे लिखा है, 'तीन ठकेदारों न अब तक इस चट्टान को काटने का ठेका लिया और तीनों काम छोड़ कर भाग गये। अब कोई ठेकेदार इसे काटने को तैयार नहीं। सरकारी कुलियों से ओवरसियर की देख-रेख में सुरंगें खुदवाई जा रही हैं; पर बारूद और डाइनामाइट का भी इस चट्टान पर कुछ प्रभाव नहीं पड़ता। बारूद या तो सुरंगों से धुएँ के रूप में वापस आ जाती ह, या दस-बारह कंकड़ियाँ चट्टान से उड़ा कर समाप्त हो जाती हैं। चट्टान बहुत ही सख्त ज्ञात होती है। साधारण चट्टानों को काटने के लिए जो योजनाएँ हमारे विभाग ने बनाई हैं, वे इस चट्टान पर काम नहीं दे सकतीं। अन्ध-विश्वास इतना दृढ़ है कि पहले ठेकेदारों ने बकरों और भैंसों की बलि चढ़ा कर चट्टान पर काम करना आरम्भ किया, और अब भी सरकारी कुली बड़ी अन्यमनस्कता से काम कर रहे हैं। किसी पुजारी ने उनसे कह दिया है, कि जब तक मनुष्य का बलिदान न होगा, चट्टान न कट सकेगी।'"

"आश्चर्य है!" मिसेज़ रेडिच ने कहा—"मिस्टर मेसन ऐसा लिखते हैं। आप अपने मातहतों से सदा बड़ी नरमी से पेश आते हैं, उसी का यह फल है कि सरकारी काग़ज़ पर ऐसी अधार्मिक नास्तिकता की बातें लिखी गई हैं!"

पति ने कहा—"तब उस बेवकूफ़ को चाहिए कि स्वयं अपनी बलि उस चट्टान पर चढ़ा कर सड़क के निर्माण का काम समाप्त करे। इससे अधिक उससे और कुछ नहीं हो सकता।"

पत्नी बोली—"और इधर आप सरकार को अपना जबाब देते-देते परेशान हो गए हैं। सड़क के उद्‌घाटन की तिथि स्थगित होती जा रही है। मार्च में सड़क तैयार हो जाने का निश्चय था, फिर जून में। अब तो दिसम्बर भी बीत चला। सरकार भी क्या कहती होगी!"

दफ्तर पहुँच कर मिस्टर रेडिच ने अपने सहकारी इंजीनियर को निम्न आशय का हुक्म भेजा—"गोरखा और गढ़वाली कुलियों को चट्टान पर काम मत करने दो। पठान कुलियों को जल्दी मसूरी से बुला कर चट्टान पर लगा दो

और स्वयं बेवकूफ़ न बनो। इस सप्ताह के अन्त तक मैं स्वयं उस चट्टान का निरीक्षण करने आऊँगा।"

उस सप्ताह मिसेज़ रेडिच की धार्मिक संस्था 'जाग्रत जीज़ज़ सभा' का अधिवेशन भी समाप्त हो गया। वे बहुत प्रसन्न थीं। धर्मों के विकास पर जो भाषण उन्होंने इस सप्ताह दिए थे, वे ईसाई महिलाओं को बड़े रुचे—विशेषकर वह व्याख्यान, जिसमें उन्होंने प्रकृति की उपासना को अपने वैज्ञानिक तर्क से असभ्यता का अवशिष्टांश, आदिम निवासियों का ज्ञानाभाव-जनित स्वाभाविक भय और पुरोहितों की मक्कारी सिद्ध किया था। उन ओजस्वी भाषणों के शब्द उनके मस्तिष्क में लौट-लौट कर चक्कर लगा रहे थे। पति के साथ वे भी उन पहाड़ी प्रान्तों में अपनी जाग्रत जीज़ज़ सभा का कार्य आरम्भ करने की इच्छा से चलने को तैयार हो गईं।

\+ \+ \+

रेल के अन्तिम पहाड़ी स्टेशन से लगभग सौ मील की दूरी पर हिमालय की उपत्यकाओं के बीच वह चट्टान थी। रेल से उतर कर खच्चरों पर सामान लद गया। दो पहाड़ी टट्टू रेडिच-दम्पति के लिए आ गए। सरकारी इंजीनियर मिस्टर मेसन ने अपने ओवरसियर और कुछ कर्मचारियों को मिस्टर रेडिच को लिवा लाने के लिए रेलवे-स्टेशन तक भेज दिया था।

सब लोग साथ ही पहाड़ी मार्ग से उस चट्टान की ओर बढ़े। हिमालय की पहाड़ियों के बीच यह यात्रा बड़ी ही रमणीक थी। छोटी-छोटी पहाड़ियों पर टेढ़े-मेढ़े घुमावदार रास्तों से चढ़ना, फिर चीड़ और तुन से ढँके उन पर्वतों के कन्धों पर कुछ समतल भूमि, फिर दूसरी पहाड़ी के नये क्षितिज, एक नये भू-भाग का सम्मुख आ जाना, फिर चारों ओर ऊँचे गिरि-श्रृंगों से परिवेष्ठित एक समतल भूमि, उसके बीच बहती हुई एक नदी, जिसके चारों ओर पहाड़ों की आधी ऊँचाई तक हरे-हरे सीढ़ी के ढंग के गेहूँ के खेत। इस प्रकार सारी घाटी रेडिच-दम्पति को प्राचीन यूनान की एक विशाल नाट्यशाला-सी प्रतीत हुई।

मार्ग में आठ-आठ या दस-दस मील की दूरी पर जंगल में सरकारी विश्राम-

गृह थे, जो बहुधा पहाड़ की श्रेणियों पर ही बने हुए थे। वहाँ पर सन्ध्या-समय दोनों घाटियों का मनोरम दृश्य उनको अपने देश स्काटलैण्ड की याद दिला देता था। पर्वतों की घाटियों के बीच बसी हुई बस्तियाँ, वृक्षों की अनोखी सुहावनी वायु, पहाड़ी रंग-बिरंगी चिड़ियों का अद्भुत संगीत, दूर बसे हिमाच्छादित पर्वतों की श्रेणियाँ, जो कभी-कभी इन मध्यवर्ती घाटियों के आ जाने से एकाएक लुप्त-सी हो जातीं और कभी उनकी एक बड़ी चोटी नीली और काली पर्वत-राशि के पीछे अटके बादल के टुकड़े-सी दिखलाई देती। प्रकृति का वह सौन्दर्य बड़ा ही अद्भुत और मुग्धकारी था। एक सप्ताह की यात्रा के उपरान्त वे हिमाच्छादित पर्वतों के और भी निकट आ गए। अब जंगलों पर शीतोष्ण-प्रान्तीय साल, तुन और शीशम के वृक्षों का नाम भी न था। चीड़, देवदारु और सुरई के वृक्ष पहाड़ों पर दिखलाई देते थे। इन वृक्षों की नुकीली पत्तियाँ शरद ऋतु के आगमन से गिर रही थीं। उस दिन एक ऐसे ही जंगल के बीच जाते हुए जिस नई घाटी का दृश्य सामने उपस्थित हुआ, वह बिलकुल उनकी जन्मभूमि के समान था। उनके मस्तिष्क में स्वदेश की स्मृतियों के तूफ़ान आ गए। बचपन की छोटी-छोटी सुप्त भावनाएँ पुनर्जाग्रत हुईं। उन्होंने फिर देखा, कंकड़ों और वृहदाकार शिलाओं के बीच बहती हुई एक पहाड़ी नदी, गहरे पीले रंग का जंगल, पिछले पतझड़ों में गिरी चीड़ की नुकीली पत्तियाँ। पत्तियों के ढेर से सारा जंगल बादामी रंग के गहरे आवरण से ढँक कर गँदले पानी की तरंगों से भरा-सा ज्ञात होता था। सारे जंगल का रंग, यहाँ तक चीड़ कि के पेड़ों की छाल और टहनियों का रंग, भी, गँदले पानी का-सा था। जंगल के उपरान्त झाड़ियाँ, खेतों की पत्तियाँ, नीले पत्थर की चट्टानें—सब कुछ उसी 'ब्लैकनिर' की-सी घाटी लगती थी, जहाँ उस दम्पति की अपनी जन्मभूमि थी। वहाँ पर वे लोग रुक गए, क्योंकि समतल भूमि का वह टुकड़ा ठीक उनके स्काटलैण्ड के पड़ोसी स्टिवेल के फार्म-सा लगता था और उस समतल भूमि के ऊपर एक पहाड़ की धार (रिज) पर बना हुआ बँगला ठीक उस गिरज-सा था, जिस में पादरी साहब की मिस एमा, जो अब मिसेज़ रेडिच थीं, और गाँव के स्कूल-मास्टर जिमी का, जो अब इंजीनियर

जेम्स नाटिंघम रेडिच थे, पाणि-ग्रहण हुआ था।

मि० रेडिच ने भावावेश में कहा—"ओवरसियर, यह घाटी बड़ी रमणीक है। उस समतल भूमि पर बसे सुन्दर गाँव का क्या नाम है भला ?"

ओवरसियर ने कहा—"साहब, इसे कालाढूंगी कहते हैं !"

मिसेज़ रेडिच ने अपनी प्राचीन स्काटिश में कहा—"जिमी प्यारे, नाम में भी बहुत-कुछ समानता है—काला-कुछ और 'ब्लैकनिर' ! आश्चर्य है ! काश, उस पहाड़ की नोंक पर बने बँगले की छतें और ढालू होतीं, और वह ब्लैक-निर का पुराना गिरजा होता।"

"क्या वह जंगल-विभाग का विश्राम-गृह है ?"—मि० रेडिच ने पूछा।

ओवरसियर ने कहा—"नहीं साहब, वह एक पल्टन के रिटायर्ड अफ़सर का मकान था। अब उजाड़ है। वर्षों से उसमें कोई नहीं रहता।"

'वर्षों से उसमें कोई नहीं रहता !'—इंजीनियर रेडिच ने मन-ही-मन कहा—'ऐसी सुन्दर जगह, ऐसा जलवायु और ऐसी सुन्दर स्थिति उस मकान की है, फिर भी उसमें कोई नहीं रहता !' और तब ओवरसियर से, उन्होंने पूछा—"क्या कारण है, ऐसा सुन्दर मकान योंही खाली पड़ा है ?"

ओवरसियर क्षण-भर चुप रहा। मकान की घटना एक लम्बी कथा थी। उसे किस प्रकार आरम्भ किया जाय, यही सोच कर उसने फिर कहना आरम्भ किया—"नदी के उस पार तोंद-से निकले उस पहाड़ के बीच में एक चट्टान दिख-लाई दे रही है—वह काली-सी भयंकर शिला, उसी के नाम पर इस घाटी का नाम कालाढूंगी है। ढूंगी इस प्रदेश की भाषा में पत्थर को कहते हैं। उस चट्टान की अशुभ-दृष्टि इस मकान पर पड़ती है, ऐसा इस गाँव के निवासियों का विश्वास है।"

उपहास की भावना से मिस्टर रेडिच ने कहा—"और पल्टन का बहादुर अफ़सर चट्टान की अशुभ-दृष्टि से डर कर ऐसे सुन्दर मकान को छोड़ गया।"

ओवरसियर ने कहा—"सूबेदार साहब को, जिनका यह मकान है, अन्ध-विश्वास की किंचित् भी चिन्ता न थी। उन्होंने इसीलिए और गाँव वालों की राय

के विरुद्ध इसी स्थान पर यह बँगला बनवाया। पर देखिए, वह काली चट्टान सदा इसी ओर घूरती-सी दिखलाई देती है, और इसी के ठीक सामने आ गई है। दुर्भाग्य से जिस दिन सूबेदार इस मकान में आए, उसी दिन उनके एक लड़के की मृत्यु का समाचार उन्हें मिला, और जब तक वे इस मकान में रहे, कुछ-न-कुछ अनिष्ट होता ही रहा।"

"चट्टान की अशुभ-दृष्टि के ही कारण ?"—मिस्टर रेडिच ने उसी प्रकार उपहास-मिश्रित व्यंग से पूछा। वे तीनों अब पगडण्डी से उसी मकान के पास से गुज़र रहे थे।

ओवरसियर कहता गया—"जी, एक और दुर्घटना परसाल हो गई। नई सड़क के कुलियों ने इस मकान में रहना आरम्भ किया और उनमें से एक की मृत्यु हो गई। साँप ने उसे काट लिया।"

श्रीमती रेडिच अब मकान के बिलकुल पास चल रही थीं। एक बार उन्होंने तोंद-से उभरे उस पर्वत को देखा और तब उसके बीच छोटे-बड़े पत्थरों की प्राकृतिक दीवार पर खड़ी एक विशाल काले दुर्ग-सी चट्टान को, जो मानो ठीक उन्हीं की ओर देख रही थी। 'चट्टान की अशुभ-दृष्टि और अनिष्टकारिणी शक्ति पर मुझे किंचित् भी विश्वास नहीं'—मन-ही-मन यह कह कर उन्होंने उस ओर से आँखें हटा लीं। पर एकाएक उन्हें उस चट्टान को देख कर एक मृत शव के दीख पड़ने की-सी भयाकुल आशंका हुई। किन्तु यह भावना क्षणिक थी। आगे बढ़ कर नदी के जल का तल स्वच्छ पारे की भाँति चमक रहा था। उस पर्वत के नीचे उतरते-उतरते उनका मन फिर संयत हो गया। पहाड़ की सम्पूर्ण चढ़ाई समाप्त कर चुकने पर कलकल करती स्वच्छ जल की नदी बह रही थी। वहाँ पर वे फिर घोड़ों से उतर गए। उस स्वच्छ जल को पीने के लोभ को वे संवरण न कर सके, और जलपान कर आगे बढ़े।

पहाड़ के इस ओर चढ़ाई पर चढ़ते-चढ़ते बादल घिर आए, और पानी पड़ने लग गया। पानी की आशंका पर्वत-प्रदेश के दौरे पर सदा रहती है, इसीलिए पूरा प्रबन्ध कर लिया गया था। पर जो कुली बरसाती कोट ला रहा था, वह अभी

पहुँचा न था। इसीलिए भुरई और चीड़ के वृक्षों के नीचे कुछ दूर आगे बढ़ कर वे जंगल के एक अदना कर्मचारी की चौकी पर रुक गए। ठण्डी हवा गोलाकार वृक्षों को उलटे पेण्डुलमों की भाँति नचा रही थी। उनकी छोटी-छोटी नुकीली पत्तियों पर पानी की बूंदें क्षण-भर टिक कर फिर तृणसंकुल भूमि पर गिर रही थीं। हवा की साँय-साँय, बादलों का गर्जन, वर्षा की झड़ी और बूंदों का गिरना—यह सब मिल कर उस एकान्त जंगल में एक अद्‌भुत संगीत-सा भर रहे थे। प्रकृति का यह भावोत्पादक, व्यापक और संवादपूर्ण दृश्य केवल शब्दमय ही नहीं, बल्कि वास्तविक, भौतिक विचित्रता-सा सजीव लगता था।

मिस्टर रेडिच का हृदय प्रसन्नता से नाच रहा था। जो भी आ जाय, उससे घुल-मिल कर बातें करने की इच्छा होती थी। एक वृद्ध पर्वतावासी ने एकाएक इस गौरांग पति-पत्नी को ऐसी जगह देख कर बड़ी भक्ति से कमर तक झुक कर सलाम किया। मि० रेडिच ने जोर से कहा—"सलाम, भाई, सलाम! एकाएक वर्षा आ गई। हमारा आदमी पीछे रह गया, इसी से यहाँ रुक गए।"

"हुजूर, मेरी झोंपड़ी पास ही है, वहाँ चले चलें। मैं इस जंगल में रेजिन (बिरोजा) का ठेकेदार हूँ।"

ओवरसियर, जो अब तक एक कोने में दुबका था, बोला—"हाँ हुजूर, मुझे तो याद भी नहीं रहा। वहाँ पर रेजिन-डिपो का कमरा अच्छा साफ़-सुथरा है।"

"हुजूर, मुझे मालूम हो गया था", ठेकेदार ने कहा—"कि आप तशरीफ़ लायँगे। वहाँ चाय-पानी का प्रबन्ध हो गया है।"

ओवरसियर को देख कर वृद्ध ठेकेदार को निश्चय हो गया, कि यही वे बड़े इंजीनियर हैं, जिनके आने की प्रतीक्षा में वह था। जंगल का वह ठेकेदार अब नई सड़क का ठेका ले कर जल्दी ही अधिक-से-अधिक रुपया बनाने की चिन्ता में था। इसीलिए रेजिन-डिपो के पास एक सुन्दर फाटक पर 'स्वागतम्' का कपड़ा टाँग कर, सुबह से ही इनके आगमन की प्रतीक्षा में था। रेजिन-डिपो में पास के जंगल-विभाग के विश्राम-गृह के खानसामे ने, जिसे कुछ पुरस्कार का प्रलोभन दे कर वृद्ध ठेकेदार बुला लाया था, रेडिच-दम्पति को चाय पिलाई। चाय

के साथ चीड़ के चिलगोज़ों को भुन कर बनाई गई नमकीन 'वीन्स' की रकाबी देख मिस्टर रेडिच बहुत प्रसन्न हुए।

चाय पीते-पीते कुली आ गए। रेडिच-दम्पति ने हाथ मिला कर वृद्ध ठेकेदार को धन्यवाद दिया, और घोड़े पर चढ़ कर वे आगे बढ़े। वह वृद्ध ठेकेदार भी साथ हो लिया। चलते-चलते बोला—"हुजूर, जंगल के ठेके में अब कुछ नहीं रह गया है।"

"नहीं, कुछ क्यों नहीं ?" मि० रेडिच ने बच्चों की-सी उसी विनोदपूर्ण प्रसन्नता से कहा—"चीड़ का चिलगोजा बड़ी अच्छी चीज़ है।"

"हाँ साहब," ठेकेदार ने कहा—"पर जंगल का ठेका अच्छी चीज़ नहीं। इतने सजीव और हरे-भरे वृक्षों की जानें ले चुका हूँ। यह हत्या अब अच्छी नहीं लगती।"

'हत्या, मर्डर !'—मि० रेडिच ने मन-ही-मन कहा—'पेड़ों की भी क्या हत्या होती है !' और अपनी पत्नी से स्काटिश भाषा में बोले—"देखो एमा, यह आदमी पेड़ों की हत्या से डर रहा है !"

जंगल के बीच ऊँचे-ऊँचे वे पेड़ सचमुच सजीव-से लग रहे थे। 'उनकी हत्या किसी मानव या पशु-हत्या से कम महत्व की नहीं हो सकती।' श्रीमती रेडिच ने मन-ही-मन सोचा, 'एक सुन्दर शृंगार-सा किए शोभामयी प्रकृति द्वारा काट-छाँट कर बनाए हुए ठोस ज्यामिति की सूची के आकार के सनोवर के इस वृक्ष को अवश्य ही काटना नहीं चाहिए। स्वार्थ के लिए इसे काट डालना एक अपराध है ही।' पर शीघ्र ही उन्हें विचार आया कि पेड़ चैतन्य कहाँ है ? और पति से बोलीं—"यह देश नास्तिक प्रकृति के उपासकों का है; यहाँ ऐसी ही बातें सुनने को मिलेंगी।"

वृद्ध उनको क्षण-भर चुप देख अपने बोलने का अवसर पा कर बोला—"साहब, अब की बार नई सड़क में मुझे ठेका दिला देने की कृपा की जाय।"

इस बात के सुनते ही मि० रेडिच की मुद्रा कठोर हो गई। उस आतिथ्य में वृद्ध के स्वार्थ-साधन की लिप्सा भी थी, यह जान कर मन-ही-मन उन्हें उस चाय

को ग्रहण करने से अब ग्लानि-सी हुई। जिस आत्मीयता और विनोद की भावना से वे अब तक घुली-मिली-सी बातें कर रहे थे, वह एकाएक लुप्त हो गई, और अपनी मुद्रा पर कठोर गम्भीरता का आवरण-सा धारण करते हुए उन्होंने कहा—"क्या इसी आशा से तुमने हमें चाय पिलाने का कष्ट किया है? यह तुमने ठीक नहीं किया।"

"नहीं, नहीं, साहब, नहीं।" वृद्ध ने सकुचा कर कहा।

फिर उस वृद्ध के भोलेपन पर मुस्करा कर मि० रेडिच बोले—"टेंडर दे सकते हो। तुम्हारा टेंडर यदि और सबों से कम होगा, तो सड़क के इंजीनियर अवश्य ही तुम्हें ठेका दे देंगे। इसमें हम कुछ नहीं कर सकते। समझे?"

वृद्ध ने कहा—"जी, हाँ।" पर उसकी मुद्रा पर शून्य-सा भाव पढ़ कर मिस्टर रेडिच समझ गए कि वह कुछ भी नहीं समझा। घोड़ों पर सवार होते हुए उन्होंने कहा—"अच्छा, ठेकेदार साहब, धन्यवाद! सलाम।"

वृद्ध ने फिर झुक कर दो बार सलाम किया। उस अभिवादन और वृद्ध की हत्या की उस आशंका से मन-ही-मन पुलकित हो रेडिच-दम्पति आगे बढ़े।

+ + +

पहाड़ों की चढ़ाई तथा उतार और फिर चढ़ाई तथा फिर उतार, यह क्रम अब समाप्त हो गया था। अब एक के उपरान्त दूसरी पहाड़ी श्रेणियाँ पहाड़ के एक मोड़ के बाद दूसरी और फिर तीसरी छोटे-छोटे दर्रों की रचना करती हुई पूरी ग्यारह हज़ार फीट की ऊँचाई पर समाप्त होती थीं, और तब उस पर्वत-श्रेणी के दूसरी ओर वह चट्टान थी, जहाँ मिस्टर रेडिच को पहुँचना था।

एक ऐसे पर्वत की पूरी परिक्रमा कर चुकने पर सहसा एक नया पर्वत सामने आ गया और दोनों घोड़े एकाएक चौंक कर खड़े हो गए। देवदारु का जंगल उस नये पर्वत को भौंह के समान चतुर्दिक विशालकाय शिलाओं, पर्वतखण्डों और मढ़ी-सी चट्टानों के वनस्पति-विहीन गिरि-मस्तक पर दूर तक चला गया था। पगडण्डी के ठीक ऊपर एक बड़ी-सी श्वेत चट्टान की बाईं ओर से सनसनाती तेज़ हवा चली आ रही थी।

"ओह देखो, यह क्वार्ट्ज़ (श्वेत स्फटिक) की चट्टान है।"—मिस्टर रेडिच ने कहा।

उनकी पत्नी उसे अब तक कोई हिमालय-प्रदेश का जंगली जानवर समझ, भयाकुल-सी घोड़े पर एंठ कर बैठ गई थीं। क्षण-भर में संयत हो कर बोलीं—"घोड़े ने तो मुझे डरा दिया। मैंने तो इसे सफ़ेद भालू समझा। बड़ी डरावनी चट्टान है यह!"

दोनों पहाड़ों के बीच उस छोटे-से-मार्ग में सूर्य की किरणें कभी न पहुँच पातीं थीं, और एक हरी काई उस पर सदा जमी रहती थी, जिससे घोड़े बहुधा फिसल जाते थे।

ओवरसियर ने आगे बढ़ कर कहा—"आगे फिसलन बहुत है। घोड़े से उतर जाइए, तो अच्छा हो।"

घोड़ों से उतर कर दोनों हाथ में लगाम पकड़े हुए आगे बढ़े। ओवरसियर ने वहाँ पर पतलून की किनारी को मोज़े के अन्दर डाल कर ऊपर से फ़ीता बाँध लिया। ऊनी कान ढँकने वाली टोपी को पूरा खोल गले तक ओढ़ लिया और उसके भी ऊपर लोई का फन्दा बाँध कर आँखों और नाक को ही खुला रखा, क्योंकि हवा बड़ी ठण्डी चल रही थी, और शीघ्र ही बर्फ़ के तूफ़ान की आशंका थी। रेडिच-दम्पति ने भी अपने ऊनी ओवरकोट पहन लिए।

ओवरसियर उस बड़ी सफ़ेद चट्टान की ओर मिट्टी का एक ढेला फेंक आगे बढ़ा। इन घाटियों के पर्वतीय लोग अब भी उस स्फटिक चट्टान के टुकड़े तोड़-तोड़ कर ले जाते थे और अगेला (आग पैदा करने का चकमक पत्थर) बनाते थे। इस ओर आने वाले गाँव के निवासी इस चट्टान पर, जिसका नाम 'अगिनद्यो' (अग्निदेव) था, पत्र-पुष्प, काठ का टुकड़ा या कंकड़, जो भी मिल जाय, चढ़ा कर तब आगे बढ़ते थे। ऐसी ही चढ़ाये हुए कंकड़ों, ढेलों और लकड़ी के टुकड़ों का वहाँ पर एक बड़ा-सा ढेर लग गया था। इंजीनियर रेडिच ने ढेले का गिरना देखा तथा चट्टान के पास पड़ा हुआ वह कंकड़-पत्थरों का ढेर भी, और ओवरसियर से इसका कारण पूछा।

"एक पुरानी प्रथा-सी चली आती है," ओवरसियर ने कहा—"इस चट्टान पर कुछ-न-कुछ चढ़ा कर लोग आगे बढ़ते हैं।"

"तो तुम भी इस रीति का पालन करते हो।?" मिस्टर रेडिच ने पूछा।

"नहीं," ओवरसियर सकुचा कर बोला—"पर एक ढेला उठा कर फेंक देने में कुछ बुराई तो है नहीं, इसीलिए..."

मिस्टर रेडिच पत्नी से अपनी भाषा में बोले—"यहाँ पर इस काई के कारण लोग फिसल जाते होंगे, और किसी का हाथ या पाँव टूट जाता होगा। ऐसी दुर्घटनाओं का कारण पर्वतवासियों की समझ में होता होगा चट्टान की अशुभ-दृष्टि। शायद इसीलिए इस पर कुछ चढ़ा कर लोग आगे बढ़ते हैं।"

पत्नी ने कहा—"आपने ठीक कहा। मैंने अपने भाषणों में भी यही कहा था, कि प्रकृति-उपासना का कारण ज्ञान का अभाव और उससे जनित भय और कुसंस्कार है। लौटती बार मैं अवश्य पास के ईसाई प्रचारकों से मिलूंगी। इस प्रदेश में सच्ची लगन के प्रचारकों की बड़ी आवश्यकता है।" पर यह कहते-कहते वे काँप उठीं। वर्षा की झड़ी, बादलों का गर्जन, तेज़ सनसनाती हवा ही इस प्रकम्पन का कारण है। यह कँपकँपी चट्टान की अशुभ-दृष्टि के कारण हरगिज़ नहीं है, यह सोच कर उन्होंने शरीर को एक बार अच्छी तरह हिलाया, और उस कँपकँपी को हिला कर शरीर से झाड़ देना चाहा।

"अगला बँगला कितनी ऊँचाई पर है?" मिस्टर रेडिच ने पूछा। इस समय उनकी पत्नी सोच रही थीं, कि पत्थर का एक टुकड़ा उठा कर यदि चट्टान पर फेंक दिया जाय, तो हर्ज ही क्या है? खासा अच्छा मज़ाक रहेगा। पर इच्छा होते हुए भी वे ऐसा न कर सकीं।

मिस्टर रेचिड के प्रश्न के उत्तर में ओवरसियर ने कहा—"पहले उस बँगले की ऊँचाई ग्यारह हज़ार पैंतीस फुट बतलाई जाती थी। नए सर्वेयरों का जो जत्था इस साल आया था, उसने बतलाया है, कि यह सारा पर्वत ऊँचा उठ रहा है। इस ओर और भी कई चोटियों की ऊँचाई बढ़ गई है।"

मिसेज़ रेडिच के लिए यह एक नई बात थी। चौंक कर बोलीं—"डार्लिंग क्या पहाड़ भी बढ़ते रहते हैं?"

पति ने कहा—"हाँ, ऐसा तो होता है। सारा हिमालय ऊँचा उठ रहा है, ऐसा भूगर्भवेत्ताओं का विचार है।"

फिसलने वाली उस हरी भूमि के समाप्त हो जाने पर मिसेज़ रेडिच घोड़े पर सवार होते हुए सोचने लगीं, 'पहाड़ बढ़ते हैं। चट्टानें भी बढ़ती होंगी, पेड़ भी बढ़ते रहते हैं। पर पेड़ों का बढ़ना और पहाड़ का ऊँचा उठना, ये दो भिन्न-भिन्न क्रियाएँ हैं। सारा हिमालय ऊँचा हो रहा है। घोड़े पर सवार हम जिस विशाल पर्वत के कन्धों पर से गुज़र रहे हैं, वह भी बढ़ रहा है!'

इस विचार से जूतों के अन्दर उनके पाँवों के तलवों में एक अजीब सन-सनाहट-सी आ गई। रक़ाबों पर ज़ोर से पाँव दबा कर मन-ही-मन उन्होंने इस अनोखी गुदगुदी का निवारण किया और सोचा, 'यह कुछ नहीं। एक वैज्ञानिक सिद्धान्त के कारण यह बढ़ना सम्भव होता है।' अनायास उनकी दृष्टि पीछे पड़ी हुई उस श्वेत स्फटिक-शिला की ओर गई। जान-बूझ कर उन्होंने उस ओर नहीं देखा। एक अचेतन भावना से अनायास ही उनकी गर्दन क्षण-भर के लिए मुड़-सी गई और उन्हें ऐसा भास हुआ, कि चट्टान ठीक उन्हीं की ओर ताक रही है!

"प्रियतम, मुझे आगे बढ़ने दो।" कह कर उन्होंने अपना घोड़ा पति के घोड़े से आगे कर लिया। पर रीढ़-तले एक मीठा-सा दर्द उन्हें अनुभव हुआ। मानो वहीं पर चट्टान की दृष्टि पड़ रही हो। 'नहीं, चट्टान के भला आँख कहाँ होती है!' यही मन-ही-मन दो बार दुहरा कर वे आगे बढ़ीं।

वह पगडण्डी अब जंगल से निकल कर सुन्दर खुली हुई भूमि में आ गई। वहाँ पर ऊबड़-खाबड़ असभ्य-सी चट्टानें न थीं, जो इस हिमालय-प्रदेश में एक साधारण-सी वस्तु हैं, और जो सदा सामने रहती हैं। देवदारु और सनोवर के लम्बे वृक्ष अब समाप्त हो गए थे। बेत का हरा जंगल और उसके बीच में बुरंश

(रोडोडेंड्रोन) के छोटे-छोटे टेढ़े-मेढ़े पेड़ों के कुंज-से थे। और उससे ऊपर ढालू भूमि कहीं भूरि-भूरी घास, और कहीं, जहाँ पानी का स्रोत बहता हो, गहरे हरे रंग की काई से ढकी थी। यह भू-भाग निर्जन-एकान्त महासागर के मध्य हरे द्वीप की भाँति लगता था।

अब पानी की बूंदें आकाश के ऊपर-ही-ऊपर अपनी पार-दर्शिता खो कर रुई के कोमल फाहों-सी चुपचाप निःशब्द गिर रही थीं। सारा वातावरण इन हिम के फाहों-से श्वेत तितिलियों के दल से भरा हुआ-सा ज्ञात हो रहा था। हिम के ये फाहे हवा में तैर कर धीरे से पेड़ की पत्तियों, टहनियों और मार्ग पर चलने वालों के कपड़ों पर बैठ जाते थे। सारा वातावरण निःशब्द था। केवल इन्हीं लोगों के चलने का शब्द पहाड़ पर एक अशुभ आगमन-सा खटपट-खटपट गूंज रहा था। ज्यों-ज्यों ये लोग पहाड़ की ऊँचाई पर चढ़ते गए, वे हिमकण होते गए। अपार श्वेत टिड्डियों का-सा दल अब सारे आकाश को घेरे था। अब वे फाहे धीरे-धीरे पेड़ों को ढक चुके थे। श्वेत आवरण अब सूखी घास, हरी भूमि और अन्त में सारी भूमि को ढँकने लगा। शीघ्र ही सारा पर्वत श्वेत चादर-सी ओढ़े दिखलाई दिया। पेड़-पौधे, घास, लकड़ी, मिट्टी सभी फेनिल दुग्ध-से श्वेत हिम का परिधान पहने थे।

पहाड़ की सम्पूर्ण चढ़ाई समाप्त कर चुकने पर जो दृश्य सम्मुख आया, वह और भी चित्ताकर्षक था। उस ऊँचे पर्वत से पहाड़ का सारा उतार दिखलाई दे रहा था। छोटी-छोटी झाड़ियों के उस जंगल के उपरान्त बुरुंश और बाँज के वृक्षों के कुंज और तब देवदारु और सनोवर के जंगल दूर तक फैले दिखलाई दे रहे थे। पहाड़ के उस ओर उतर कर उन्होंने देखा कि उन ऊँचे-ऊँचे सूच्याकार वृक्षों के ऊपर हिम का आवरण जहाँ पर समाप्त हो गया था, वह भी एक अनोखा ही दृश्य था। हिम-विहीन हरे और हिमाच्छादित श्वेत भाग एक-दूसरे में आ कर धीरे-धीरे नहीं मिले थे। इन्द्रधनुष के रंगों की भाँति एक रंग दूसरे में मिल कर अन्तर को अस्पष्ट न करता था; बल्कि एक सीधी रेखा में एकाएक रेखागणित की कृति-सी हिम की रेखा आ कर समाप्त हो गई थी और हिम-

विहीन हरी रेखा का आरम्भ हो गया था। भूमि के भूगर्भ-स्थित किसी धातु-गुण से, पेड़ों की ताप-संवाहिनी विभिन्न प्रकृति से अथवा उनके किसी और विद्युत गुण से शायद हिम एक रेखा में आ कर समाप्त हो गया था, आगे नहीं गिरा था, या गिरते-गिरते अपना ठोस रूप धारण न कर सकने से पिघल गया था। प्रकृति का यह अनोखा खेल देख कर वे भी स्तब्ध-से वहाँ थोड़ी देर खड़े रह गए।

अब पहाड़ के उतार पर लगभग एक मील की दूरी पर वह चट्टान थी, जहाँ उन्हें पहुँचना था। हिम से ढका हुआ मार्ग दूर तक फैला दिखलाई दे रहा था—श्वेत मखमल से ढका हुआ-सा उस कोमल आवरण पर पाँव रखते ही गढ़ा पड़ जाता और उसका समतल आवरण कुरूप हो जाता। घोड़ों के खुरों से उस श्वेत भूमि में जो काले छेद हो जाते, वे बड़े कुरूप दिखलाई देते। ऐसी सुन्दर भूमि को इस प्रकार चल कर कुरूप कर देने में उन दोनों को लज्जा-सी आती। पर वे लोग इस भावना को मन-ही-मन दबा कर आगे बढ़ते रहे। मार्ग में किसी चिड़िया तक के इधर-उधर फुदक कर जाने के चिह्न उस श्वेत, कोमल वर्फ़ पर स्पष्ट दीख पड़ते थे।

एक पहाड़ी की श्रेणी पर उतर जब वे थोड़ी-सी समतल भूमि पार कर के दूसरी पहाड़ी पर आए, तो जो दृश्य सम्मुख आया, वह और भी चित्ताकर्षक था। उस ऊँचे पर्वत से अनेक छोटे-छोटे पर्वतों की श्रेणियाँ निकल कर एक के उपरान्त दूसरी घाटियों की रचना करती, दूर उस बड़े पर्वत के ठीक मूल में एक बड़ी विशाल नदी के तट पर जा कर समाप्त हो गई थी। उनके ठीक पाँवों पर कुहरे से भरी, चारों ओर पर्वतों से घिरी घाटी एक बड़ी दूब से भरी झील-सी लगती थी। उसके एक ओर यह पर्वत, हरे और श्वेत रंगों का वह अनोखा खेल, हिम का वह निःशब्द वातावरण और दूसरी ओर नदी के उस पार अनेक छोटी-छोटी वैसी ही पहाड़ियाँ, उनके किनारों पर बहती छोटी-छोटी नदियाँ, उन नदियों से परिवेष्ठित अनेक छोटी-छोटी घाटियाँ थीं। यह अलौकिक दृश्य उस एकान्त शीतल वायु में नितान्त आवरणहीन सौन्दर्य

की एक भयावनी उल्लासपूर्ण भावना से उन्हें कम्पायमान करने लगा। चिर-परिचित वृक्ष भी उस श्वेत आवरण से विशाल देव-से खड़े चुपचाप उनकी ओर एकटक देखते-से जान पड़ते थे। वे ही मानो उस अलौकिक शान्ति में विघ्नकर्त्ता अपराधी हों।

नदी के उस पार की उन घाटियों, पर्वतमालाओं और उनके बीच अटके हुए बादलों के ऊपर सारी उत्तर-दिशा के पूरे क्षितिज पर विशाल श्वेत स्फटिक की दीवार-सी हिमालय की श्रेणी खड़ी थी। एक ओर वह ऊँची हिममाला और दूसरी ओर यह हिम-पर्वत उस विशाल नदी के दूर बसे दो किनारों की भाँति हो गए थे। बीच में आने वाली छोटी-छोटी पहाड़ियाँ इतनी बड़ी घाटी में अपना विशालपन खो कर नदी के हरे और नीले कंकड़-पत्थरों-सी लगती थीं। उनकी उन छोटी-छोटी घाटियों में लोट-पोट होते कुहरे के बादल बहते हुए नदी के पानी की फेनिल तरंगों की भाँति दिखलाई दे रहे थे। हिमालय की श्रेणी के बीच एक सब से बड़ी चोटी उस कोसों फैली नदी के ठीक किनारे खड़ी दिखलाई दे रही थी।

रेडिच-दम्पति हिममाला की उस अद्भुत छटा को देखते रह गए। हिम का गिरना बन्द हो गया था। बादलों के टुकड़े यत्र-तत्र सारे आकाश में छिटके हुए जल्दी-जल्दी भाग रहे थे। उत्तर की ओर उस हिम माला के एक कोने पर आकाश बिलकुल स्वच्छ हो गया था। उज्ज्वल नील आकाश का एक प्रान्त सूर्य की किरणों से सारे हिमालय की श्रेणी को तीव्र प्रकाश से चमका रहा था। सारा वातावरण सन्ध्या के पीत प्रकाश में धुन्ध-सा हो गया था, जो हिमालय की इस श्रेणी पर ऐसा जान पड़ता था, मानो दिन का कुछ भाग छूट कर रह गया है।

ओवरसियर ने कहा—"वह बड़ी ऊँची श्रेणी केदारनाथ की है, और दूर नीचे बहती हुई गंगा की एक सहायक नदी अलकनन्दा है।"

इस नैसर्गिक दृश्य को देख कर रेडिच-दम्पति की भी इच्छा हुई कि एक बार इन पर्वतों और नदियों को नहीं, तो इनके निर्माणकर्त्ता को तो अभिवन्दना कर

लें। पर व दोनों में से कुछ भी न कर सके। यह विचार उनके मन में ही रह गया।

मि० रेडिच ने पूछा—"केदारनाथ का मन्दिर इसी बड़ी हिम-श्रेणी पर होगा?"

"हाँ, उसी श्रेणी के ठीक नीचे, जहाँ पर श्वेत हिम में वह छाया-सी दिखलाई देती है।" सैकड़ों मील दूर बसी उस हिमश्रेणी की ओर अँगुली से संकेत कर के ओवरसियर ने बतलाया। इतनी दूर से भी उज्ज्वल हिमालय की पृष्ठ-भूमि पर प्रकाश और छाया से घिरे अंश साफ़ पहचाने जा सकते थे।

"केदारनाथ में किस देवता की उपासना होती है?"—साहब ने पूछा। उनकी पत्नी भी यही प्रश्न पूछना चाह रही थीं॥

ओवरसियर ने इस प्रान्त का निवासी होते हुए भी आज तक इस प्रश्न पर कभी विचार नहीं किया था, कि उस तीर्थ-स्थान में किस देवता की उपासना होती है। पर शीघ्र ही उसे जैसे कुछ स्मरण हो आया, और उसने कहा—"मूर्ति तो वहाँ किसी देवता की नहीं है। हिमालय की दूर तक फैली एक चट्टान का अंश जो उस मन्दिर के अन्दर आ गया है, उसी की उपासना होती है। शिवजी का वह एक अंश है।"

इस प्रत्युत्तर को सुन कर काले कुहरे का एक उच्छ्वास-सा मिसेज़ रेडिच के मुंह से निकला—'तो यह पहाड़ी प्रान्त ही नहीं, सारे हिन्दुस्तान के निवासी जो केदारनाथ की यात्रा करते हैं, प्रकृति के, इन पाषाणों के, इन वृहदाकार चट्टानों के उपासक हैं। पर इससे क्या, जो एक व्यक्ति का कुसंस्कार है, वह एक जाति का भी कुसंस्कार हो सकता है। इतने अधिक लोग इसकी उपासना करते हैं, केवल इसी एक कारण से चट्टानों की महत्ता बढ़ नहीं जाती।' यही सोच कर उन्होंने अपनी आन्तरिक प्रतिक्रियाओं का मार्ग एकाएक बन्द-सा करने का प्रयास करते हुए पति से पूछा—"यह वही केदारनाथ तो है, जहाँ आपके असिस्टेंट इंजीनियर मि० सिंह उस तीर्थ-मार्ग पर काम करते हैं?"

पति ने कहा—"हाँ, यह वही स्थान है। सचमुच मनुष्य का अस्तित्व तो इन पर्वतों में खो-सा जाता है। इतने बड़े पर्वत और ये घाटियाँ भी हिमालय

की उस श्रेणी के निकट कंकड़-पत्थर-सी दिखलाई देती हैं। केवल हिमालय ही एक विशाल देव की भाँति इस प्रान्त में निरंकुश राज्य करता-सा जान पड़ता है।"

पर अपनी बात समाप्त करते ही मि० रेडिच सोचने लगे, कि जाग्रत जोजज सभा की यह अध्यक्षा हिमालय की इस उपमा से, मेरे उसे जीवित शासक का रूप दे देने से, शायद प्रसन्न न हुई होंगी। और पत्नी सोच रही थीं, कि जो एक व्यक्ति का कुसंस्कार है, वह एक जाति का कुसंस्कार हो सकता है; पर एक जाति का कुसंस्कार—अज्ञान-जनित भय—क्या सचमुच हेय वस्तु है? निरंकुश शासक, यह निरंकुश शासक हिमालय बढ़ रहा है, ऊँचा उठ रहा है। विशाल देव! पति ने भी इसे विशाल देव कहा। एक जाति का कुसंस्कार मानव-जाति की स्वाभाविक अभिव्यंजना भी तो हो सकता है। लेकिन मैं यह क्या सोच रही हूँ?

तब सामने नदी के उस पार उस धुंधले प्रकाश में मटमैले तम्बुओं की पंक्ति को देख, पत्नी ने अपनी उस अप्रिय विचार-धारा को बरबस रोक कर कहा—'डार्लिंग, हम लोग आ गए। वे तम्बू दिखलाई दे रहे हैं।'

\+ \+ \+

उस रात मिसेज़ रेडिच अच्छी तरह सो न सकीं। आँखें बन्द करते ही उन्होंने 'ल्लैंकनिर' की वह घाटी देखी और अपने पिता को उस गिरजे के पास मरा हुआ देखा। फिर चट्टानें आईं—काली, नीली, श्वेत, भयावनी चट्टानें! उन चट्टानों ने बड़े-बड़े गिद्धों की भाँति उस शव को घेर लिया। बड़े-बड़े ऊँचे पर्वत दौड़-दौड़ कर आए। उन्होंने अपनी शाखाएँ हिला-हिला कर पत्र-पुष्प और फल उस शव पर बिखेर दिए। फिर एकाएक नाटक का-सा पर्दा गिर गया। सारा दृश्य बदल गया। चट्टानें बढ़ने लगीं। बढ़ कर एक-दूसरे में मिल गईं। वह शव भी उनमें मिल गया। सारा सम्मिश्रण एक विशाल पर्वत-सा हो गया। बीच में उस शव की दो बड़ी-बड़ी आँखें ही दूर खड़ी अकेली उनको ताकती रहीं। उन आँखों से चारों ओर पीला-सा प्रकाश फैल रहा था। चमकीली पीली-

पीली अनेक लम्बी सुइयों की भाँति किरणें आँखों से चारों ओर फैल रही थीं। सारा पर्वत धीरे-धीरे उनके निकट आ रहा था। नगाड़ों के बजने का-सा शब्द हो रहा था। दूर एक विशाल नीली नदी के किनारे वे अकेली खड़ी थीं। मिस्र के पिरामिड-सी वह बड़ी पर्वतराशि उन्हीं की ओर खिसकती चली आ रही थी। उनके मुंह से एक चीख निकली और नींद टूट गई।

पर पिरामिड फिर भी सामने दिखलाई दे रहा था। उन्होंने आँखों को अच्छी तरह मल कर मन-ही-मन कहा—"यह स्वप्न था—एक स्वप्न, निरा स्वप्न!" पर खुली आँखों के सामने भी एक धुन्ध-सी सूच्याकार पिरामिड की की छाया दिखलाई दे रही थी। फिर उन्होंने दो-तीन बार आँखों को फिर-फिर बन्द किया और खोला। काफ़ी देर के बाद धीरे-धीरे कहीं वह दृश्य हटा। 'तम्बू के दरवाज़े का पर्दा सारे तम्बू के कपड़े की अपेक्षा हलका था, इसीलिए चाँदनी का प्रकाश सूच्याकार हो अन्दर दिखलाई दे रहा है।' यही सोच कर उन्होंने फिर आँखें बन्द कर सोने का उपक्रम किया।

थके हुए मि० रेडिच रोज़ की भाँति प्रगाढ़ निद्रा का आनन्द ले रहे थे। उनकी लम्बी-लम्बी साँसें दूर बहती पहाड़ी नदी के गर्जन के शब्दों के साथ मिल कर कानों में एक अनोखा 'कॉय-कॉय' का शब्द कर रही थीं। इसीसे देर तक उनकी आँख नहीं लगी।

दूसरे दिन उन्होंने उस दुर्भेद्य चट्टान का निरीक्षण किया। नदी के किनारे-किनारे वह नीली चट्टान दूर तक फैली थी। सुरङ्गों के छेदों से बिंध कर उसका उसका रूप चेचक के घावों से भरा हुआ-सा विकृत हो गया था। सारी चट्टान गोलाकार पर्वत के एक विशाल स्तन की भाँति नदी के किनारे उस नई सड़क के ऊपर और नीचे दोनों ओर फैली थी। जहाँ पर्वत की ऊँचाई पर उसकी गोलाकार परिधि का अन्त होता था, वहाँ पर एक छोटी-सी कुटिया थी, जिस पर नीले स्लेटों की छत थी। इसीको लोग देवी का मन्दिर कहते थे। इस गोलाकार विशाल चट्टान पर नई सड़क का कटा हुआ मार्ग उन तम्बुओं

से देखने पर अपनी चौड़ाई खो देता था, और एक खरोंच-सा दिखलाई देता था।

उस दिन मिसेज़ रेडिच की पलकें रात्रि की अनिद्रा से बोझिल हो रही थीं। उन्हें बड़ी थकान-सी आ रही थी। पिछली रात की उस स्वप्न की बात वे पति से कहना चाहती थीं; पर पति को आज अवकाश ही न था। वे दिन-भर उस चट्टान पर काम करने वाले कर्मचारियों को अनेक प्रकार के आदेश देने में ही संलग्न रहे। सन्ध्या समय तक पाँच सुरंगें तैयार हो गईं। इंजीनियर रेडिच ने उन्हें अपने सामने खुदवाया। सीधी सुरंग के अन्तिम भाग में एक-एक ओर तिरछा छेद करवाया। उन तिरछे छेदों में डाइनामाइट की वत्तियाँ रखी गईं। फिर उसी चट्टान के चूर्ण को एक रसायन में मिला कर छेदों को अच्छी तरह बन्द कर दिया गया। कुलियों और अन्य सब कर्मचारियों को वहाँ से हट जाने की आज्ञा दी गई। तब इस जड़ पत्थर और मानव-बुद्धि की लगातार इन तीन वर्षों की लड़ाई का एक नया काण्ड आरम्भ हुआ। सब लोग बड़ी उत्पुसुकता से फल की प्रतीक्षा करने लगे। मि० रेडिच ने एक बार फिर अच्छी तरह चट्टान का निरीक्षण किया। सब को चट्टान के दगने की प्रतीक्षा में अच्छी तरह छिप कर रहने की आज्ञा दे कर वे अपने तम्बू में पत्नी के पास लौट आए।

चट्टान के टूटने पर इस ओर के तम्बूओं में, जो पहाड़ की ओट में थे, किसी प्रकार की आपत्ति की आशंका न थी। जल्दी-जल्दी चाय पीते हुए मि० रेडिच ने कहा—"मुझे अभी फिर चट्टान तक जाना है। सुरंगें ठीक हो गई हैं, उन्हें मैं अपने सामने सुलगाने का हुक्म दूंगा।"

मिसेज़ रेडिच ने आँखें उठाईं। अनायास ही उनकी आँखों में आँसू आ गए। वे पति से बोलीं—"यह चट्टान न काटी जाय, तो अच्छा हो। क्या कोई दूसरा मार्ग मोटर-सड़क के लिए नहीं बन सकता?"

पत्नी के इस अचानक भाव-परिवर्तन पर आश्चर्य से मन-ही-मन इसकाअर्थ लगाते हुए मि० रेडिचने कहा—"प्रिये, इस बार भी यदि चट्टान

न कटे, तो ऐसा ही करना पड़ेगा। पर यह होगी बड़े दुर्भाग्य की बात।"

पत्नी ने एक लम्बी साँस ली। कहा—"डॉलिङ्ग, जाने दो, इस चट्टान को न काटो। इसे ऐसा ही पड़ा रहने दो। मुझे बड़ी घबराहट हो रही है।"

मि० रेडिच ने पत्नी की मुख-मुद्रा पर भय के चिह्न स्पष्ट देखे। पर स्त्री-सुलभ एक साधारण कदर्यता ही इसका कारण जान कर उनकी पीठ सहलाते हुए कहा—"एमा, तुम घबराओ मत। लो, यह ओवरसियर आ गया है। मैं जाकर डाइनामाइट की बत्तियाँ सुलगवाता हूँ। तुम संयत होकर अन्दर बैठी रहना। बैटरी आ गई है। रेडियो की मशीन ठीक-ठीक करना। मैं अभी लौट कर आता हूँ।" यह कह कर, एक हल्की-सी थपकी पत्नी की पीठ पर दे कर मि० रेडिच चट्टान की ओर चले गए।

'हाय! हे ईश्वर, यह ठीक नहीं हुआ! मैं यहाँ आई ही क्यों?' मन-ही-मन यह कहती पत्नी तम्बू के अन्दर चली गई, 'हाय, मेरे पति भी मेरे हृदय की दशा को नहीं समझ सके! इस चट्टान का टूटना मेरे लिए असह्य प्रसंग है। पति कठिनता से मेरी बातों को सुनने के लिए आधे बैठे-से रहे, बड़ी अन्य-मनस्कता से और इतनी थोड़ी देर के लिए'—यही सोचते हुए उन्होंने खुले रेडियो की मशीन के कभी एक पुर्जे और कभी दूसरे पुर्जे को उठा कर अकारण ही तम्बू के अन्दर चक्कर लगाना आरम्भ किया।

तभी हल्की-सी गड़गड़ाहट से उनका ध्यान भंग हुआ। किसी अज्ञात प्रेरणा से दौड़ कर वे तम्बू के किनारे बाहर, जहाँ चाय के बर्तन अब तक मेज़ पर वैसे ही पड़े थे, आ गईं। किसी पेड़ के गिरने का-सा शब्द हुआ और फिर भयंकर लम्बायमान गर्जना—चारों ओर से। शिकारियों से घिरे हुए शेर की अन्तिम निराशा-पूर्ण दहाड़ का-सा भयंकर निनाद! फिर भयानक अविराम गर्जन! भयंकर ध्वनियों और प्रतिध्वनियों से सारी घाटी काँपने लगी।

मिसेज़ रेडिच की आँखें चट्टान की ओर उठ गईं। पर धुएँ के बादल, बारूद और जलते हुए गन्धक की गन्ध, पेड़ों के प्रकम्पन की उस सनसनाहट में वे कुछ भी न देख सकीं। तब उनके कानों में नगाड़ों के बजने का-सा शब्द हुआ—ठीक

वैसा ही, जैसा रात को उन्हें सुनाई दिया था। लौट कर वे अन्दर चली गईं। तम्बू में दो-तीन चक्कर और लगाए; पर आँखों से कुछ भी न दिखलाई दिया। उनका सारा ध्यान उसी चट्टान की ओर था। 'यह डर व्यर्थ है। मैं घबरा नहीं रही हूँ'—यह सोच कर वे फिर बाहर आ गईं। कुर्सी के पास झुक कर उन्होंने उस पर बैठना चाहा; पर कुर्सी एकाएक गिर पड़ी। उनकी समझ में नहीं आया, कि यह क्योंकर हुआ। फिर गड़गड़ाहट हुई—धातु के किसी भारी वर्त्तन के टूटने की-सी भयंकर झनझनाहट, वज्रपात का-सा भयानक शब्द। नगाड़ों का शब्द और ज़ोरों से उनके कानों में बजने लगा। उनकी आँखें फिर उस धुएँ के बीच चट्टान को ढूंढ़ने लगीं। पर नगाड़ों का वह शब्द असह्य हो चला था। अन्दर लौट आने को उन्होंने पाँव बढ़ाया; पर हवा का एक झोंका गन्धक की तीव्र दुर्गन्ध के साथ इतने वेग से आया, कि वे लड़खड़ाती दो क़दम पीछे आ गिरीं। हवा में तिनके, सूखे पत्ते और चट्टानों पर उगी हुई नागफनी के पीले पुष्पों की पंखु-ड़ियाँ उड़ रही थीं। वहाँ फिर एक क्षण के लिए उनकी चेतना वापस आ गई।

'चट्टान की अशुभ दृष्टि से यह नहीं हो रहा है, भयानक गर्जन से ही यह घब-राहट आ गई है। नीचे तम्बू की ओर जाना ही अब उचित होगा। मुझे घबराना नहीं चाहिए।' यह सोच तंबू की ओर उन्होंने पाँव बढ़ाया; पर फिर उनकी दृष्टि धुंधली हो गई। उड़ते हुए तिनके, पत्ते और पुष्प हिम के अगणित टुकड़ों के साथ उनके चारों ओर चक्कर लगाने लगे। वे टुकड़े पीले, श्वेत, लाल, नीले और अन्त में काले हो गए और फिर जुगनू-से चमकीले हो उनकी आँखों के सन्मुख नाचने लगे। कुछ क्षण बाद उन्होंने नाचना बन्द कर दिया। हवा का वह प्रकम्प भी रुक गया। उन्हें ऐसा भास हुआ कि वे सशरीर चट्टान की ओर उड़ी जा रही हैं। सब-कुछ शान्त और अचल हो गया है, वे ही भयानक गर्जना करती उस शान्त हवा को चीरती हुई उड़ रही हैं। शिथिल कल्पना में सहसा विचार आया, "चट्टान टूट रही है। उसे टूटना न था, बिना नर-बलि के वह टूट नहीं सकती! शायद उसने मुझे ही छाँट लिया है। बरबस मुझे ही अपनी ओर खींच, वह मेरी हत्या कर के सन्तुष्ट होना चाहती है। पर यह विचार व्यर्थ है। मैं उड़ नहीं रही

हूँ। मैं घबरा गई हूँ ! '—यह सोच, फिर उन्होंने हाथ और पाँव चारों से रेंग कर तंबू की ओर बढ़ना चाहा। पर सारा जोर लगा कर भी वे तिल भर आगे बढ़ सकीं, और मुंह के बल वहीं गिर गयीं।

भयंकर गर्जना और प्रतिगर्जना से घड़ी-भर तक सारी घाटी कांपती रही। उन गर्जनाओं के शान्त होने पर जब धूल के बादल फट गए, तो मिस्टर रेडिच तम्बू की ओर लौटे। उन्होंने कुर्सी के निकट औंधी पड़ी हुई निर्जीव पत्नी को देखा। उनके स्कर्ट का एक छोर उल्टी कुर्सी के पास एक पाँव से फँसा था। नाक और मुंह से झाग निकल कर पास की सारी मिट्टी में बबूले-से उठा गया था। इन्द्रधनुष का रंग उन बबूलों पर नाच रहा था !

लौट आओ

मेरे देवता ! तुम शायद क्रुद्ध हो जाओगे, कि मैं तुम्हें इस प्रकार संबोधित कर रही हूँ। पर मैंने तो तुम्हें सदा देवत्व ही देना चाहा था, और स्वयं मैं तुम्हारी दासी से अधिक कुछ नहीं बनना चाहती थी। तुम चाहते थे, कि मैं तुम्हारी बराबरी करूँ। हाँ, मैं इसे बराबरी करना ही कहूँगी, यद्यपि तुम इसे अपने शब्दों में 'सामंजस्य स्थापित करना' कहते थे। इस सामंजस्य को स्थापित न कर सकी। दम्पति-जीवन का मेरा आदर्श तुम्हारे आदर्श के समीप न आ सका। उसीका परिणाम मैं आज भुगत रही हूँ।

देव, तुम्हें याद होगा, तुमने एक बार मुझसे कहा था, कि तुम्हारा मेरे प्रति सच्चा प्रेम है। याद है, पिकनिक के बाद लौटते हुए तुमने ताँगे से उतर पार्क तक पैदल चलने को कहा था? हम उतर पड़े थे। बिजली की दूर-दूर पर लगी, 'ब्लैक आउट' के कारण बिलकुल मन्द-मन्द बत्तियों के बीच हम लोग एक-दूसरे से बिलकुल सटे हुए चल रहे थे। तब तुमने धीरे से यह चौपाई कही थी—

'जाकर जा पर सत्य सनेहू।
सो तेहि मिलत न कछु संदेहू॥'

उस अंधकार में मुझे तुम बिलकुल देवता-से लग रहे थे, और ये शब्द देव-वाणी सदृश। पर एक ही साल के उपरान्त, याद है, उस दिन तुमने क्या कहा था? वह सात जुलाई का दिन मुझे सदा स्मरण रहेगा। उससे पिछली रात हमने अँधियारे में काटी थी। हमारे मकान की बिजली खराब हो गई थी। तुम मुझसे उन दिनों खिचे-खिचे-से रहते थे। पर उस दिन, उस अभागे सात जुलाई के प्रातःकाल, बरामदे में पड़ी आराम-कुर्सी पर बैठे-बैठे बड़ी सहज और सरल ध्वनि में तुमने जो कुछ कह दिया, उससे हम दोनों का सम्बन्ध एकाएक

खंडित-सा हो गया। तुमने कहा था—"मैं यह सब नहीं सह सकता ! आज से तुम मेरी कोई नहीं, और मैं तुम्हारा कोई नहीं !"

मैं जानती थी, कि तुम एक दिन ऐसा अवश्य कहोगे, और मैं मन-ही-मन इसके लिए तैयारी भी कर चुकी थी। पर फिर भी तुम्हारे इन शब्दों को सुन कर मुझे एकाएक ऐसा झटका-सा लगा, कि मेरे शरीर में सहसा रक्त का संचार ही मानो बंद हो गया, और पिछली रात का वह सारा अंधकार सिमट, और भी गाढ़ा हो कर मानो मेरे अंदर समा गया।

तुम अपनी कुरसी पर बैठे सिगरेट बना रहे थे। तुम्हारी आँखें उस छोटे-से कागज़, नेवीकट के उस हलके नीले डिब्बे और उस पीली तम्बाकू पर जमी रहीं, मानो कुछ हुआ ही नहीं। सच्चे स्नेह की उस रज्जु को एकाएक झटका दे कर तुमने मुझे तो निर्जीव कर दिया, और तुम स्वयं अविचलित ही रहे। तुम्हारे उन शब्दों को उच्चारण करने का ढंग, वह अविचल स्थिर भावना और तुम्हारी वह उपेक्षा मेरे लिए असह्य हो गयी।

आज चार वर्ष बीत गए। फिर जुलाई का महीना आ गया, और पाँच दिन बाद वही सात जुलाई आ जायगी। मैं यह पत्र तुम्हें प्रयाग ही से लिख रही हूँ। जबलपुर मैं सदा के लिए छोड़ आई हूँ। तुम्हें याद तो होगा, मैं वहाँ गवर्नमेंट गर्ल्स कालेज में अध्यापिका थी। नौकरी का लालच और आकर्षण ही शायद मुझे तुम से अलग करने में सहायक हुआ था। इन चार वर्षों में यह बात मेरे मन में सदा खटकती रही। मुझे तुमसे बिछुड़ने पर यदि निराश्रय हो जाने का डर होता, तो मैं शायद उस दिन, उस सात जुलाई के दिन, एकाएक तुम्हें छोड़ न आती।

मैं तो सदा तुम्हारी उपासना के लिए प्रस्तुत हूँ, देव ! तुम्हीं मुझसे क्रुद्ध हुए थे, और तुम्हींने वे शब्द कहे थे। मैंने तो तब भी कुछ नहीं कहा था। मैं कुछ कह ही न सकी थी। और अब भी मुझे कुछ नहीं कहना है। वह मेरा अपना दुर्भाग्य था, कि तुमको वे शब्द कहने पड़े। इसमें मेरा ही दोष है। लेकिन मेरी तो जो भावना तब तुम्हारे लिए थी, वह अब भी है। और प्रयाग आ कर तो तुम्हारी

स्मृति और भी प्रवल हो गई है। इस बार प्रयाग उजड़ा-सा लगता है। सड़कों और चौराहों पर सदा की भाँति विद्यार्थियों की भीड़ लगी रहती है। इस वर्ष जुलाई के आरम्भ से ही यह भीड़ वढ़नी आरम्भ हो गई है। लेकिन फिर भी सब-कुछ सूना-सूना-सा लगता है। मैं पार्क की ओर टहलने भी गई थी, और एक दिन शिवकुटी भी गई; लेकिन मुझे कुछ भी न भाया। पार्क में मैं उस बेंच पर बैठी, जिसके सामने सालीविया की क्यारी में बैंगनी फूल खिलते रहते थे। वे तुम्हें बहुत पसन्द थे। अब उन क्यारियों में छोटे-छोटे नए पौधे उगाये गए हैं। मूर्ति के पीछे, जहाँ हम लोग देर तक फूलों की सुगंधित वायु में बैठे रहते थे, और तुम मुझे तारों के उदय होने पर उनके नाम आदि बतलाते थे, उस स्थान पर फूलों की सुगंधि तो थी, पर मुझे उस इत्र की याद आ गई, जिसे तुमने अपने साथी शीराज से ईद के दिन छीना था, और जो फिर तुम्हें इतना पसन्द आया था, कि तुम उसे सदा इस्तेमाल करने लग गए थे। उसकी सुगंधि की स्मृति ने उन फूलों को, और अँधेरे में पार्क के किनारे पर लगी उस रात की रानी की सुगन्धि को भी फीका कर दिया। मैं मन मारे खोयी-खोयी-सी लौट आई।

हाँ, चार साल पहले यह सब ऐसा न था। तब तुम सैनिकों से घृणा करते थे। इसीलिए तुमने अपने चाचाजी के कहने पर भी यू० टी०सी० में नाम नहीं लिखाया था। तुम्हें गाढ़े की वह सफेद कमीज और खद्दर की वह मोटी धोती ही पसन्द थी। मैंने तुम्हें कभी पतलून या निकर पहने भी न देखा था। अब तुम लेफ्टिनेन्ट हो। खाकी वर्दी पहन कर तुम बिलकुल ही बदले हुए-से दीखते होगे। अपने-अपने वस्त्रों की पसन्दगी के बारे में हम कितनी बड़ी-बड़ी दलीलें पेश करते थे! कैसा तर्क होता था! क्या मुझे न बतलाओगे, तुम्हारे जीवन में इतना बड़ा परिवर्तन किस प्रकार सम्भव हुआ?

और मैं तो अब दूसरी ही दिशा की ओर चल पड़ी हूँ। मेरा वह पुराना शौक, कीमती वस्त्रों का शौक, अब जाता रहा है, मैं घमण्ड के साथ नहीं कहती, कि मैंने स्वेच्छा से उन्हें छोड़ा है, यदि लड़ाई न होती, और वे रेशमी और जार्जेट की छपी साड़ियाँ अब भी सुलभ होतीं, तो शायद मेरा शौक अब भी वैसा ही

रहता। पर कुछ उनका अभाव और कुछ तुम्हारी स्वदेशी वस्त्रों की तब की प्रशंसा मुझे इस ओर खींच लाई है। और अब तुम देखोगे, हाँ, मुझे तो यही आशा है, कि अवश्य तुम कभी मुझे देखोगे, तो मेरे पास सिवाय श्वेत खद्दर के और कुछ न पाओगे।

तुम्हारा और मेरा परिचय वैसे हुआ था। शायद ही दुनिया में दो प्राणी इस प्रकार इतने कम समय में एक-दूसरे के इतने सन्निकट आये हों। याद होगा, मैं अखबार लिये चली जा रही थी, और जल्दी में थी। मुझे अपने चाचा के पास जल्दी पहुँचना था। तुमने मुझे एकाएक रोक लिया था। मैं तुमसे किंचित भी सकुचाई या डरी नहीं। तुमने पूछा—"क्या आज का अखबार है ?" तब मैं समझ गई, कि तुम अपने परीक्षा-फल के लिये उत्सुक हो ! तुम्हारी भावभंगी देख कर और तुम्हारी चिन्ताकुल आवाज सुन, जैसा कि मैंने तब भी तुमसे कहा था, मुझे ऐसा भास हुआ, कि अवश्य तुम्हारा नाम पास होने वालों में न होगा।

अखबार उठाते हुए तुमने कहा—"ओह, पास हो गया, और फर्स्ट डिवीज़न में ! फर्स्ट डिवीज़नर मेरे अलावा और कोई नहीं है।"

तब हमने एक-दूसरे के विषय में कई बातें जानीं। मैंने तुम्हारी उम्र का, परिवार का और न जाने किस-किस चीज़ का पता लगा लिया, और जान लिया, कि तुम संसार में बिलकुल अकेले हो, बिलकुल अकेले। तुम्हारे माता-पिता का कभी स्वर्गवास हो चुका है, और तुम्हारा बड़ा भाई पल्टन में है। और तुमने भी मेरे विषय में जाना, कि मेरे पिता कालेज में इतिहास पढ़ाते हैं, और मुझे संगीत से असीम अनुराग है। मैं सिनेमा स्टार बनना चाहती हूँ। हाँ, तब मेरी यही तो अभिलाषा थी, और तुम यह सब ध्यानपूर्वक सुनते रहते थे। तुमने कभी मेरी किसी बात की, किसी भावना की, यहाँ तक कि किसी भी उचित या अनुचित आकांक्षा की आलोचना न की। तुम फिर प्रति दिन हमारे यहाँ आने लगे। पुरातत्व के अध्ययन के लिये तुमसे पिताजी कहते थे; पर पुरातत्व का अध्ययन तो एक बहाना था, तुम आते थे मेरे ही लिये। और तुम्हारा आना मेरे लिये अच्छा

ही था, नहीं तो पिताजी की आकस्मिक मृत्यु के उपरान्त मेरी न जाने क्या दुर्दशा होती।

मेरे उस दुर्भाग्य के समय तुम्हें मानो विधाता ने ही मेरी सहायता के लिये भेज दिया था। तुमने अपनी सेहत की परवाह न की, अपने इम्तहान की चिन्ता छोड़ दी, और रात-दिन पिताजी की सेवा में लग गए। दो बार डाक्टर को बुलाना, दवा के लिये जाना और रात भर जागना, यह सब मानो तुम्हारे लिये कोई बड़ी बात न थी। पर विधाता को तुम्हारी सेवा स्वीकार न थी। पिताजी चल बसे। और रह गई मैं अकेली। देव, तुम सचमुच देवता हो! मेरे लिये वे दिन कितने भयानक होते! कमरे की एक-एक वस्तु मुझे पिताजी की याद दिलाती थी। और तुम मुझे बार-बार समझाते थे। मैं बेहोश हो जाती, और न जाने कितनी बार तुम्हें मेरे लिए पड़ोस में जा कर डाक्टर बुलाना पड़ता।

देव, तुमने मुझे बचाया, और तुम्हींने मेरा उद्धार किया। और अन्त में तुम्हीं-ने मुझे छोड़ दिया। आकाश में इतना ऊपर उड़ कर मुझे छोड़ा, कि इस दुनिया में अब जहाँ मैं उतरी हूँ, सब-कुछ अपरिचित और सब-कुछ विपरीत ही-सा दीखता है। केवल तुम्हारी स्मृति के सहारे मैं जी रही हूँ, हाँ, तुम्हारी स्मृतियों को बटोर, सँभाल कर संचित करती जा रही हूँ, वह मेरे अथाह, शून्य भविष्य के लिये एक बहुमूल्य निधि है।

तुमको याद था, कि पिता जी मेरे जन्मोत्सव पर सदा कानपुर से मेरी बुआ और फूफा को बुलाते थे। हमारे सूने घर में तब दो-तीन दिन तक अच्छी चहल-पहल रहती थी। मुझे सुन्दर वस्त्रों के उपहार मिलते थे, और साथ ही मेरे फूफा-जी के बच्चों के लिये भी नये वस्त्र बनते थे। पिताजी के चल बसने पर, जब मेरा जन्म-दिवस आया, तो फूफाजी और गोविन्द आ गए। तुमने उन सब को बुला लिया था। तभी तुम्हारे उस चित्रकार मित्र ने मेरा वह चित्र बनाया। मैं उस दिन उदास थी, पर उस चित्रकार के आ जाने से मेरी सारी उदासीनता जाती रही थी।

और तुमने उस चित्र को देख कर क्या कहा था, देव? शायद तुम स्वयं

भूल गए होगे, पर मुझे उसका एक-एक शब्द याद है। तुमने कहा था—"तुम्हारे इस अपूर्व सौन्दर्य का अंकन मैं अपनी एक दृष्टि से कभी भी न कर पाया। इतना अपार सौन्दर्य! भला मैं अपने मस्तिष्क में इन सब को केन्द्रित कर ही कैसे सकता था? अब चित्रकार ने मेरी सहायता की! मानचित्र पर जैसे नदी, बन, पर्वत का जो विराट दृश्य संक्षेप में अंकित रहता है, वैसे ही तुम्हारा अतुल सौन्दर्य सूक्ष्म, किन्तु स्पष्ट, रूप से इस चित्र में अंकित है!"

यह सब कहते हुए तुम मुझे बदले हुए जान पड़े। मैं सोचती थी, कि तुम मेरे रूप से बिलकुल आकर्षित नहीं हो। मुझे कभी-कभी तुम्हारी इस अवहेलना पर खीझ-सी होती थी। पर उस दिन तुमने जो कुछ कहा और किया, उससे मुझे जान पड़ा, कि प्रेम की उस धधकती आग को तुम अपने हृदय के अन्दर-ही-अन्दर दबा कर बाहर से कैसे भोले-भाले और शान्त बने रहते थे। सचमुच तुम्हें एक बार देख, कोई तुम्हारे विषय में पूर्ण रूप से नहीं जान सकता। और जान कर भी तुम्हारे निकट संपर्क में रहने पर भी कोई तुम्हारे गुणों से भली भाँति नहीं परिचित हो सकता। तुम्हारी सरल प्रकृति के पीछे और उस भोलेपन के अन्दर एक ऐसी दुर्भेद्य लौह शिला-सी है, कि साधारण व्यक्ति की बुद्धि उस तक जा कर, कुन्द हो कर लौट आती है, और उसे तुम निरे मूर्ख और अनुदार-से लगते हो। और मैं तो तुम्हें पा कर भी ग्रहण न कर सकी। विधाता को शायद यह स्वीकार न था।

उस दिन हम लोग पार्क में टलहने गए थे। देर तक उस बेंच पर बैठे रहे। मैंने तुमसे कहा था—"देव, मुझे यह जान कर कितना हर्ष हुआ, कि तुम मुझे प्यार करते हो! अगर तुम ऐसा न कहते, तो शायद मेरा जीवन ही व्यर्थ हो जाता! तुम मुझे प्यार करते या न करते, मैं तो तुम्हें सदा के लिए अपना चुकी थी!"

तुमने कहा था—"भला, मैं तुम्हें क्यों न प्यार करता! मुझे तो सदा यही खटका रहा, कि शायद तुम मेरे प्रेम को ठुकरा दो! और भला मुझमें ऐसी कौन-सी बात है, जिसके कारण कोई नारी मुझे अपना प्रणय दे?"

बड़े लोग अपने विषय में कितना कम सोचते हैं, तब यह मुझे तुम्हारी इस

बात से ज्ञात हुआ। तुमने अपनी बात सच्चे मन से कही थी। सर्व गुण-सम्पन्न होते हुए, तुम्हें अहंभाव छू तक न गया था। और दूसरी ओर मैं थी, कि अपने को अपार सौंदर्य-सम्पन्न और सुसंस्कृत समझे बैठी थी।

मैंने सहज भाव से कहा था—"ऐसा न कहो। कोई भी नारी तुम-जैसा स्वामी पा कर अपने को धन्य समझेगी।"

"सचमुच ? क्या तुम ऐसा ही सोचती हो ?" तुमने बिलकुल मेरे सन्निकट आ कर पूछा था। और तुम्हारी तप्त साँस मेरे माथे पर आ कर टकराई थी।

मेरा मन भीत और विकसित-सा हो गया था। और मेरा हृदय सुनील आकाश के मध्य तारों में भ्रमण करना चाहने लगा था।

तुमने तभी कहा था—"आज मेरे जीवन का विकास हुआ है ! सचमुच तुम्हारे हृदय को पा लेने की मुझे आशा भी न थी। मुझे स्वीकार कर तुम अपने इस सौन्दर्य के प्रति कोई मूर्खतापूर्ण कार्य तो नहीं कर रही हो ? क्या तुमने अपना भविष्य भली भाँति विचार कर ही यह सब कहा है ? मैंने तुम्हारे निकट सम्पर्क में आ कर, तुम्हारा स्नेहभाजन बन, तुम्हारी इस अपार निधि को हथिया कर, तुम्हारे प्रति अन्याय तो नहीं किया ?"

तुम्हारी इन गम्भीर बातों को सुन कर मुझे हँसी आ गई थी। मैं तब चंचल हो, बाग की क्यारियों की तरह खिलखिला कर हँसना चाहती थी। और तुम थे, कि गम्भीर आकाश की तरह न जाने क्या-क्या सोच रहे थे। और फिर हँसते हुए मैंने तुम्हारा मुंह अपनी हथेली से बन्द कर दिया था, और मैं कुछ न कह सकी थी, क्योंकि तब तुम्हारे अधर मेरे अधरों पर थे। सचमुच मैं क्षण भर तक सन्न-सी रह गई थी। तुम्हारे अधरों का वह मधुर स्पर्श मेरी ग्रंथि-मूलियों में एक अभूतपूर्व, स्निग्ध आलोड़न-सा भरता हुआ चला गया था। तुम भी चुप थे। शायद तुम्हें भी ऐसा ही अनुभव हुआ होगा। वह हमारा प्रथम चुम्बन एक विद्युत-तरंग की भाँति क्षण भर के लिए हमारी वाक्-शक्ति को अवरुद्ध-सा कर गया था। तुमको वह क्षण क्या याद है ? मुझे तो खूब याद है। श्वेत चाँदनी हमारे वस्त्रों पर थिरक रही थी। तुम अपना लाल टुवीड का कोट और धोती पहने थे, और

तुम्हारे पैरों में चप्पल थी। मैंने छपे सिल्क की उस साड़ी के ऊपर बड़ा कोट पहन रखा था। पास मेयोहाल की ओर से संगीत की मधुर लहरियाँ आ रही थीं। ऊपर एक विमान बमरौली की ओर भर्राता हुआ जा रहा था। और दो युवा हृदय हर्षातिरेक से आलोड़ित हो कर, अपने सम्मिलन का उद्दाम, तीव्र प्रकम्पन अनुभव कर रहे थे।

तुम शायद यह सब भुला चुके होगे, या तुम्हारी उस आन्तरिक लौह शिला में यह मधुर स्मृति भी प्रस्तरीकृत 'फासिल' की भाँति स्पन्दनहीन एवं निर्जीव-सी हो गई होगी। आह, देव, इस सब के लिए मैं ही दोषी हूँ!

और कितनी छोटी-सी बात ले कर हमारा मन-मुटाव हुआ। वह इतना तीव्र हुआ, और अन्त में इस सीमा तक पहुँचा, कि तुमने कह ही तो डाला, "आज से मैं तुम्हारी कोई नहीं, और तुम मेरे कुछ नहीं!' तुमने मुझसे सविता के विषय में पूछा था, कि क्या मैं उसे जानती हूँ। वह तुम्हें उस दिन ट्रेन में मिली थी। मैंने अनजाने में कह दिया था, कि मैं उसे बिलकुल नहीं जानती। सचमुच जब मैं यह उत्तर दे चुकी, तब कहीं स्मरण हुआ, कि तुम सविता के विषय में पूछ रहे हो, वह तो मेरे साथ बचपन से ही बी० ए० तक पढ़ती आई थी। पर मैंने, मेरा यह दुर्भाग्य था, कि अपनी गलती नहीं स्वीकार की थी। तुम मेरे उत्तर से चिढ़ गए थे, और तुमने कहा था—"सविता को तुम खूब भली भाँति जानती हो! व्यर्थ झूठ क्यों बोलती हो?"

तुमको अब यह जान कर हँसी आयेगी, कि उस समय फिर तुम्हारे उस प्रश्न या उस प्रताड़ना की ओर मेरा ध्यान बिलकुल न रहा। मैं तुम्हारी नाक की ओर देख रही थी, कि वह लम्बी नाक और उसके बिलकुल सिरे पर अटका हुआ-सा वह चश्मा बड़ा भद्दा दिखता है। और जब तुमने फिर न जाने कौन-सा प्रश्न सविता के विषय में किया, तो केवल 'सविता' शब्द मेरी सुषुप्त चेतना में पहुँचा, और मैंने मन-ही-मन सोचा, 'घोड़े की-सी लम्बी नाक बड़ी भद्दी लगती है!' और चिढ़ कर शायद कहा—"सविता, सविता! क्यों सविता के पीछे इस प्रकार पड़ गए हो? क्या आज खाना भी न खाओगे?"

और इस प्रत्युत्तर को सुन कर तुम्हारी मुद्रा एकाएक कठोर हो गई थी, और तुमने उस दिन फिर घर पर भोजन भी नहीं किया था।

फिर तुम्हारा समय सभाओं और संस्थाओं में ही कटने लगा। तुम खिंचे-खिंचे-से रहने लगे। लड़ाई के कारण चीजों का बढ़ता हुआ भाव और रुपये-पैसे की कमी और भी मनमुटाव को बढ़ाने लगी। यद्यपि तुम प्रति मास अपने ट्यूशनों, रेडियो-भाषणों और कविताओं से सौ-डेढ़ सौ रुपये कमा लेते थे, पर फिर भी हमारे मकान में रहना तुम्हें खलने-सा लगा था। मैं यह समझ रही थी। पर जो बात मुझे उस समय खलती थी, वह यह थी, कि मेरी-जैसी निराश्रिता नारी पर तुम्हें बिलकुल भी दया न थी। तुम दिन-रात अपनी ही बातों में संलग्न रहते थे, तुम्हें प्रकट रूप से मेरी कुछ भी परवाह न थी! कम-से-कम मुझे तो ऐसा ही लगता था।

उतनी कठोर बात तुम्हारे मुंह से निकली थी। उसके कारण पर मैंने कई बार विचार किया। सचमुच उन शब्दों के लिये सोलह आने मैं ही दोषी हूँ। मैंने तुम्हें वह सब कहने के लिये विवश किया था। कमरे में एकाएक अंधकार हो जाने पर मैं दूसरे कमरे में गई। वहाँ भी रोशनी न थी। 'स्विच' दबा कर देखा, फिर भी बत्ती न जली। उससे मुझे पिछली रात का स्मरण बार-बार हो आता। वह अंधियाला मेरे इस निपट अंधकारमय जीवन का मानो स्पष्ट प्रारम्भ था।

तुमने बरामदे में बैठे-बैठे कहा था—"कई कमरों में बिजली की फिटिंग बरसाती पानी से खराब हो गई है। अब छत की मरम्मत करानी जरूरी है। और कहीं-कहीं बिजली के तार भी बदलने होंगे।"

मैं कह बैठी थी—"तुम्हें इससे क्या? सारा मकान भी ढहने को हो जाय, तो भी तुमको चिन्ता न होगी! मैं क्या जानती नहीं हूँ, कि तुम इस मकान में रहना बिलकुल पसन्द नहीं करते!"

तुमने शान्त भाव से उत्तर दिया था—"हाँ, इसी प्रकार लड़ाई कर के तुमको मुझे निकालना न पड़े, इससे तो यही अच्छा है, कि मैं तुरंत ही कहीं दूसरी जगह चला जाऊँ!"

मैंने फिर कहा था—"अपने को दोष क्यों दोगे ! अच्छा, मैंने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है, जो दिन-प्रति-दिन तुम्हारा व्यवहार मेरे प्रति रूखा होता जा रहा है, और तुम इस प्रकार मुझे रुला-रुला कर मार रहे हो ?"

जब मैंने ये शब्द कहे थे, तो मुझे किंचित भी आभास न था, कि तुम्हारे हृदय में मेरे लिये कोई स्थान है। सचमुच मैं यह सब न कहती, यदि मुझे ज्ञात होता, कि अगले दिन मैं अपनी नई नौकरी पर जबलपुर चली जाऊँगी। मैंने यह बात तुमसे छिपा रक्खी थी। अगले दिन जब तुम सुबह ही चले गये, तो मुझे अच्छा अवसर मिल गया। तब उसे अच्छा अवसर समझ, तुम्हारी अनुपस्थिति में अपना थोड़ा-सा सामान ले कर चल दी। मैंने एक छोटा-सा पत्र लिख कर नौकर को दिया था। वह तुम्हें अवश्य मिला होगा। मकान की देख-रेख का भार अब तुम्हारे ऊपर था।

महीनों बाद नौकर को जो पत्र मैंने लिखा था, उसके उत्तर में उसने लिखा, कि तुम सैनिक कमीशन की प्रतियोगिता में सफल हुए, और नौकर को पचास रुपया प्रतिमास भेज रहे हो। मुझे यह सब जान कर आश्चर्य हुआ। सचमुच मैं तुम्हारे एहसान को कभी न भूलूंगी। मैं जब प्रयाग छोड़ कर यहाँ आ गई, तो मैंने कभी यह भी न सोचा, कि अपने मकान की, अपनी पैतृक-सम्पत्ति की देख-रेख की भी मेरी जिम्मेदारी है। अपने उच्छृङ्खल स्वभाव और तुम्हारी गम्भीर प्रकृति का यह अन्तर मन-ही-मन स्पष्ट हो कर मुझे तुम्हारी महानता की फिर याद दिलाता है। मेरा भला तुम्हारे ऊपर क्या अधिकार था, जो इस प्रकार तुम्हारे ऊपर सब-कुछ छोड़ कर मैं यहाँ आ गई ? लेकिन तुमने मेरे दुर्व्यवहार की कुछ भी चिन्ता न की, और अपने कर्त्तव्य का पालन किया।

देव, जो कुछ भी मैं सोचती हूँ, उस सब में तुम्हारा कुछ-न-कुछ सुकृत्य स्मरण हो आता है। इतना सब होने पर भी मैं तुम्हें न अपना सकी, और तुम्हारे योग्य न बन सकी !

अंत में एक बात और लिखूंगी, देव ! हमारी बड़ी अध्यापिका यहाँ पर बहुत बीमार हो गई थीं। उनके लिए हमें जबलपुर के सैनिक अस्पताल की नर्स

बुलानी पड़ी। मेरा नाम सुनते ही नर्स ने कहा—"प्रोफेसर गांगुली की पुत्री मृणाल तो आप नहीं हैं?" और तब उसने मेरे विषय में ऐसी-ऐसी बातें बतला दीं, कि मैं आश्चर्य में पड़ गई। उसीने बाद में मुझे बतलाया, कि जब तुम घायल हो कर फील्ड अस्पताल में लाए गए थे, तो बिलकुल बेहोश थे। धीरे-धीरे जब तुम्हारी चेतना लौटी, तो तुम घंटों तक 'मृणाल, मृणाल' पुकारते रहे। उस अर्द्धचेतनावस्था में बार-बार इस नाम को रटते सुन, नर्स ने बतलाया, कि उसने पहिले यही सोचा, तुम किसी आराध्य-देवी का मन-ही-मन स्मरण कर रहे हो। पर शीघ्र ही तुम्हारे शरीर में शक्ति का संचार हुआ, और तब तुम और भी कुछ कहने लगे। नर्स ने बतलाया, तुम बहुधा उसे ही 'मृणाल' समझ कर कह बैठते—"क्यों, मृणाल, तुमने मुझे क्षमा कर दिया? तुमने बड़ी कृपा की मृणाल, कि यहाँ चली आई। सचमुच मृणाल, मेरा तुम्हारे अतिरिक्त और है कौन?"

नर्स ने यह भी बतलाया, कि धीरे-धीरे तुम्हारे घाव अच्छे हो गए, और तुम उस नर्स को मृणाल समझने की अपनी गलती समझ गये। तुमने अपने अस्पताल की नर्सों और सेविकाओं के नाम पूछे। और भी जिन-जिन नर्सों, सेविकाओं और डाक्टरनियों को वह नर्स जानती थी, उनके विषय में भी पूछा, यह जानने के लिये, कि मैं वहाँ कभी थी या नहीं। तुम अपनी उस कमजोर हालत में कभी-कभी नर्स से लड़ पड़ते थे, और ज़िद करते थे कि वहाँ मृणाल अवश्य आई थी, तुमने अवश्य उसे देखा था।

देव, तुम मुझे अवश्य अब भी प्यार करते होगे। तुम्हारा वह अपार, अमिट स्नेह मुझपर प्रकट हो ही गया। पर तुमने अब तक मुझे पत्र क्यों नहीं लिखा? मैं अब तक कई बार तुमको पत्र लिख चुकी हूँ, और कई बार मैंने उन्हें भेजने का विचार किया, लेकिन यह जान कर, कि तुम शीघ्र ही प्रयाग आनेवाले हो, उन्हें फाड़-फाड़ कर फेंक दिया। देव, क्या मुझे यह भी लिखना पड़ेगा, कि मैं कभी भी तुमसे अलग इस जीवन के कायम रहने की कल्पना भी नहीं कर सकती हूँ? तुम पुरुष हो, और यह सब सह सकते हो। मुझे भुला कर भी तुम जीवन-यापन कर सकते हो। पर मुझमें यह क्षमता नहीं है! मैं तो बस तुम्हारी ही हूँ। तुम मुझे

स्वीकार करो, तो मेरा जीवन चल सकता है। अगर नहीं, तो तुम्हीं सोच कर देखो, कि किसके आसरे और किसके लिए भला मुझे इस संसार में रहना है! इस नर्स की अचानक मुझसे भेंट हुई, और तुम्हारे हृदय का सच्चा हाल मुझे ज्ञात हुआ। क्या इसमें तुम्हें विधाता का हाथ नहीं दिखाई देता?

मुझे आशा है, देव, कि शीघ्र ही तुम आओगे, और अपने इस सुन्दर मकान में रहोगे। यह तुम्हारा ही घर तो है। मैं इस घर में अकेली हूँ। पर सच पूछो, तो मैं अपने को अकेला नहीं समझती, क्योंकि तुम तो सदा मेरे साथ हो, मेरे हृदय में वास करते हो। और यह तो मैं सिद्ध ही कर चुकी हूँ, कि मेरी एक स्मृति तो तुम्हारे साथ युद्ध में भी भ्रमण कर आई है। मैं तुम्हें पाने की अधिकारिणी तो हूँ ही। तुम बदल गए हो, पर तुम्हारा हृदय तो वही है। वे तुम्हारी मधुर स्मृतियाँ, प्रेम की बाँहों की भाँति, मुझे अपने पाश में बाँधे हुए हैं। और तुमने भी मुझे नहीं भुलाया। अगर तुम निर्दय होते, तो विस्मृति का नश्तर डाक्टर की भाँति पूरी निर्दयता से चलाते। तुम्हारा यह निर्दय कार्य पूर्ण निर्दयता से होता। पर तुमने अपने दुःखातिरेक की व्याकुलता में मेरा जो स्मरण किया, उससे मुझे तुम्हारी सहज प्रकृति का पता लग गया। देव, वह सुन कर मैं उस दिन फिर खूब रोई, और दिन भर रोती रही!

हाँ, तो मैं तुम्हें पाने की अधिकारिणी तो हूँ ही न? तुम अवश्य आओगे, और तुम्हारे ही उस असीम प्रेम से मैं प्रेम करना सीखूंगी। तुम मुझे क्षमा कर दोगे, और मैं भी तब अपने अधिकार की सत्यता सिद्ध कर दूंगी, देव, कि मेरा तुम पर अतुल, असीम, अगाध प्रेम है!

पर्वत प्रदेश का अध्यापक

वे वनस्पति-विहीन चट्टानें आज बड़ी विकराल और भयवानी लगती थीं। मोतीलाल ने सड़क पर से सिर उठा कर एक बार उस ओर देखा और फिर आँखें फेर लीं।

सड़क पर अभी तक धूप नहीं आई थी। सूर्य की किरणें उन चट्टानों की ऊँची-ऊँची चोटियों और तीक्ष्ण कगारों पर ही अटकी थीं। सारी घाटी और सड़कों पर उन चट्टानों की काली घनी छाया एक विषादमय आवरण-सा डाल रही थी।

मोतीलाल इन चट्टानों के रूप के विषय में अब तक एक निश्चित राय नहीं बना सका था। कभी वे उसे बहुत सुन्दर लगतीं, कभी बड़ी भयानक और कभी बड़ी भद्दी, एक दम घृणास्पद। दुर्गम वेग से बहती उन दो नदियों का कलकल शब्द, चाँदनी रात में जब इन चट्टानों तक पहुँच कर उन गुफ़ाओं में गूंजता, तो एक अद्भुत कायँ-कायँ-कायँ का सा शब्द करता। मोतीलाल तब अपने अर्द्ध-निमीलित नेत्रों से श्रद्धापूर्वक उस शब्द को आकर्ण सुनता रहता। वे चट्टानें तब श्वेत चाँदनी में दूर बसी हिमाच्छादित श्रेणियों से भी अधिक लुभावनी उसे लगतीं।

शीत ऋतु के प्रातःकाल, जब उस घाटी में एक भी पक्षी अपने घोंसले से न निकला होता, और जब सूर्य की किरणें हिमालय की एक चोटी के उपरान्त दूसरी पर क्रमशः उतर कर अन्त में इन चट्टानों पर आने लगतीं, ऊपर जमा हुआ श्वेत पाला चमचमा उठता, कगारों पर जमे हुए ओस के श्वेत हिम-कण हजारों फीट नीचे एकाएक गिर पड़ते और गिरते ही कुहरे की रचना कर देते, तब भी मोतीलाल प्रकृति के इस अद्भुत खेल को देखता ही रहता। बड़ी ही सुन्दर लगतीं उसे तब वे आर्द्र चट्टानें!

पर आज एक सप्ताह हुआ उसके बच्चों को रोटी बिना मिले। आटा कहीं मिलता ही न था। बड़े-बड़े शहरों में तब आटे और गेहूँ का अभाव था। रेल और मोटर के मार्गों से सैकड़ों मील दूर, उस ऊबड़-खाबड़ प्रदेश के उस छोटे कस्बे में जो कुछ भी आटा था, वह भी बनियों ने हरिद्वार के मेले के उपरान्त इस ओर आनेवाले यात्रियों से मनमाना मूल्य वसूल करने के लिए छिपा लिया था। एक दिन, दो दिन, तीन दिन इस प्रकार पूरे सप्ताह भर उसने गेहूँ या आटा मोल लेने का प्रयत्न किया, उस घाटी में बसी सभी दूकानें छान डालीं। पर कहीं भी आटा न मिला। आज फिर शनिश्चर का दिन था। पूरे सात दिन से दोनों वक्त भात, वही गीला-गीला-सा खाना वह खा रहा था। वह तो इसे सहन भी कर लेता, पर उसके बच्चों का दुख, उससे नहीं देखा जाता।

आज वे चट्टानें उसके जीवन की व्यर्थता पर, उसके प्रयत्नों की निष्फलता पर, मानो मुस्करा रही थीं। वे बड़ी ही कुरूप, कठोर और निर्मम काले-काले, विशाल गिद्धों-सी उस सारी बस्ती के जीवित प्राणियों पर अपनी क्रूर दृष्टि जमाए हुए थीं।

हरिद्वार से बदरीनाथ धाम को जाने वाली पहाड़ी की सड़क पर वह कस्बा बसा हुआ था। वहीं पर भयंकर गर्जन करती अलकनन्दा उसी प्रकार तीव्र गति से छलाँगें मारती हुई मन्दाकिनी से मिलती थी। पत्थर की छोटी शिलाओं, गोलाकार पत्थरों या मिट्टी का उस संगम पर नाम भी न था। काली, विशालकाय चट्टानों से बना हुआ एक समूचा पर्वत श्रृंग था, उसीको अपने सहस्रों वर्षों के अविराम परिश्रम से काट कर इन दो नदियों ने दो बड़े-बड़े द्वार से बना लिये थे। उसी पर्वत के अन्धकारपूर्ण इन सँकरे द्वारों के बीच एक ओर मंदाकिनी के किनारे केदारनाथ धाम को मार्ग चला जाता था, और दूसरी ओर बदरीनाथ की सँकरी घाटी थी।

उन दो नदियों के ऊपर हवा में झूलते हुए, तार से चट्टानों पर कसे, लोहे के एक-एक पुल थे। उन पुलों पर चलते समय आँखें सदा सामने चट्टान की ओर लगाए रखनी पड़ती थीं, क्योंकि तेज बहते हुए पानी की ओर देखने से दृष्टि चकरा

जाती थी। ऐसा दीख पड़ता था, कि सारा पुल पानी के साथ ऊँचा उठ कर, यात्री के पाँवों को उलटे आकाश की ओर घुमा कर उसे सिर के बल नीचे पानी में गिराये देता है।

पुलों के किनारे-किनारे चट्टानें काट-काट कर जो थोड़ी-सी भूमि समतल कर ली गई थी, उसीमें धर्मशालाएँ, दूकानें और साधुओं की कुटियाँ थीं। उससे कुछ आगे डिस्ट्रिक्ट बोर्ड का वह स्कूल था, जिसमें मोतीलाल बच्चों को पढ़ाता था। पास ही पहाड़ की थोड़ी-सी ऊँचाई पर सरकारी अस्थाई अस्पताल था, जो ग्रीष्मकाल में, जब केदारनाथ या बदरीनाथ के पट खुले रहते हैं, यात्रियों की सुविधा के लिए खुलता था और शेष छः महीने बन्द हो जाता था।

\+ \+ \+

"दुलारे बनिये की दूकान में आटा आ गया है," गोविन्द ने कहा। वह दौड़ कर हाँफता हुआ इसी समाचार को सुनाने सुशीला के पास चला आया था।

सुशीला नदी किनारे कपड़े धो रही थी। मोतीलाल के स्कूल चले जाने पर उनके ये दोनों बच्चे कपड़े धोने नदी के किनारे चले आए थे। अब उन्हें स्कूल नहीं जाना पड़ता। सुशीला अब बारह वर्ष की है। तीन वर्ष पहले ही उसने कक्षा चार की परीक्षा पास कर ली है। और गोविन्द भी पारसाल चौथी कक्षा में उत्तीर्ण हो गया है। उसका उस कक्षा में प्रथम उत्तीर्ण होना ही इस कस्बे की शिक्षा की अन्तिम सर्वोच्च श्रेणी है। इस गौरव के मिल जाने पर मानो अब उसे कुछ करना ही नहीं है। पास में कोई बड़ा स्कूल नहीं है, न मोतीलाल के पास इतना रुपया ही है, कि वह उसे किसी बड़े कस्बे में पढ़ने भेज दे। इसीलिए अब गोविन्द निश्चिन्तता से घूमता है। बर्तन मलने, कपड़ा धोने और खाना बनाने में सुशीला का साथ वह एक वाहन की तरह देता है। सुशीला को नदी किनारे छोड़, गोविन्द डाक्टर मुकर्जी की लड़की प्रीति को बुलाने गया था, कि उसने दुलारे बनिये को आटा तौलते हुए देख लिया।

"बहुत-सा आटा है जीजी उसके पास, कहता है आज ही आया है।" गोविन्द ने हाँफते हुए कहा।

अपनी फटी धोती को सावधानी से निचोड़ते हुए सुशीला ने कहा—"तो तुमने कहा नहीं उससे, कि दस-पाँच सेर हमारे लिए भी रख देना?"

"कहा था," गोविन्द ने उदास हो कर उत्तर दिया—"पर कहता है, आटा नकद मोल ले जानेवालों के लिए ही पूरा नहीं पड़ता, उधार कहाँ से दें!"

"उधार!" सुशील ने आश्चर्य से कहा, पर शीघ्र ही उसे स्मरण हो आया, उसके पिता अपने वेतन में से केवल बहुत ही आवश्यकीय व्यय निकाल बाकी सब इसी बनिये को दे देते हैं। इस महीने जो कुछ दिया होगा, वह सब अब तक समाप्त हो गया होगा। चावल बारह आने सेर है, और दोनों समय चावल का व्यय सेर-सवासेर से कम नहीं। बीस रुपए भला कब तक चलते!

धुले हुए उन कपड़ों को सँभाल कर वह सोचने लगी, 'बालू में पड़ी वे चपटी, गोल कंकड़े इस समय धातु की बनी होतीं, या उसके पास प्राचीन ऋषियों का-सा मन्त्र होता, कि वह उस मन्त्र के बल से उन्हें रुपये में बदल सकती!' एक-दो कंकड़ों को उठा कर उसने मुट्ठी में दबा लिया। बालू की अनेक छोटी-छोटी कंकड़ें उसकी हथेली में नाचने लगीं।

"अली बाबा और चालीस चोरों की कहानी पढ़ी है तुमने? याद है तुम्हें वह गोविन्द?" उसने कहा।

"क्यों नहीं। वही फटी, पतली-सी किताब जिसमें लाल अक्षरों में लिखा था, 'शिक्षा प्रसार पुस्तकालय'।" गोविन्द बोला।

"जिसमें 'खुल सम-सम' कहने पर वह चट्टान खुल जाती थी।" सुशीला ने कहा।

"हाँ-हां, और चट्टान के अन्दर खजाना निकल आता था।" गोविन्द बोला।

"मैं सोच रही हूँ," सुशीला ने कहा—"बालू की इन कंकड़ों को चट्टान पर मारती, और वैसा ही खजाना निकल पड़ता!"

"हाँ, दीदी, तब हम दुलारे बनिये की दूकान का वह सब का सब आटा आज ही खरीद कर अपने दोनों कनिस्तर भर देते। नारायणदास सेठ के रुपये दे दिये जाते। छः सैकड़ा के हिसाब से व्याज तब न देना पड़ता। बाबूजी के दाँत में चावल खाते-खाते सूज कर पीड़ा भी न होती, और इस फटी धोती को फाड़ कर हम दो पर्दे बना लेते जैसे डाक्टर साहब ने बना रखे हैं। तुम्हारे लिये प्रीति की जैसी अच्छी किनारे वाली लम्बी साड़ी आ जाती!"

मोतीलाल विधुर था। लगभग सात वर्ष पहले उसकी पत्नी का देहान्त हो गया था। पत्नी चार बच्चों को छोड़ कर मरी थी! तब से दो बड़ी लड़कियों की मोतीलाल शादी कर चुका है। उन लड़कियों का ब्याह करने में उन्हें आठ सौ रुपया उधार लेना पड़ा है। सेठ नारायणदास मोतीलाल के सरल और निष्कपट व्यवहार से बहुत प्रसन्न थे, उन्होंने केवल छः रुपया सैकड़ा सूद पर यह रुपया उन्हें उधार दे दिया। पहले चार रुपया व्याज के साथ दस रुपया माहवार मूल भी प्रति मास चुका देने का वादा मोतीलाल ने किया था, पर अब मूल देना कठिन हो गया है, और चार रुपया मासिक व्याज मोतीलाल देता आ रहा है।

गोविन्द ने अलीबाबा की उस कहानी की बात सुनाते ही खुद भी पानी में हाथ डाल कर थोड़ी-सी बालू अपनी मुट्ठी में उठा ली, पर एक बड़ी मछली उसके हाथ के निकट कुछ खाने की वस्तु पा जाने के लोभ से आ कर उसकी उँगली को छू गई। डर कर जल्दी से मुट्ठी वहीं खोल कर उसने तब अपना हाथ पानी से बाहर निकाल लिया।

अपने बाल-सुलभ-उल्लास से उसने कहा—"देख, सुशीला दीदी, कितनी बड़ी मछली है यह! प्रीति अब भी नहीं आई। वह इसे देख कर अवश्य डर जाती, पर यह मेरी मुट्ठी पर ठोकर दे कर चली गई, और मुझे जरा भी डर नहीं लगा। एक बात है, अगर डाक्टर बाबू के अजायब घर के लिये इस बड़ी मछली को पकड़ लिया जाय, तो वे इनाम तो अवश्य देंगे!"

सरकारी अस्पताल के डाक्टर मुकर्जी बाबू बच्चों से मच्छर, बर्रें, साँप आदि कई छोटे-बड़े जन्तु पकड़वा कर अपनी काँच की बोतलों में सुरक्षित कर अपने पूर्व अर्जित जीवन-विज्ञान के ज्ञाता को सजग रखने का प्रयत्न करते थे। उनका अजायब घर था! पुरस्कार की दरें नियत थीं। प्रति मच्छर जीवित—दो आना, मृत एक आना। बर्रें जीवित—चार आना, मृत—दो आना। मछली जिन्दा—दो आना, मरी—एक आना। साँप की दर बहुत ऊँची थी। जीवित के लिए—पाँच रुपया, और मृत—एक रुपया। अब तक चार आने से अधिक पुस्कार किसी बच्चे को न मिला था।

प्रीति को बुला कर मछली पकड़ने का प्रबन्ध होने लगा। जूठे बर्तन अभी नहीं मले गये थे। उनमें से चावल निकाल कर एक बड़े पतीले में रक्खे गये। और उथले पानी में मछली के निकट डाल कर, तीनों बच्चों ने हाथ पतीले के ही नीचे डाल दिये।

दो-तीन बार मछली निकट आई, किन्तु फिर लौट-लौट कर चल दी, पर अन्त में एक बार पतीले के अन्दर आ ही गई। बच्चों ने पतीला उठाकर किनारे पर रख दिया, और वह बड़ी मछली जीवित डाक्टर साहब के सम्मुख उपस्थित की गई।

उन दो पवित्र नदियों का वह संगम एक तीर्थ स्थान था, और वहाँ पर मछली का पकड़ना या मारना पाप समझा जाता था, पर बच्चों को यह बात ज्ञात न थी। और न डाक्टर मुकर्जी ही इस बात के क़ायल थे।

बड़ी-सी मछली को देख कर डाक्टर साहब ने पुरस्कार की रकम बढ़ा दी, और सुशीला और गोविन्द दोनों को चार-चार आने मिले।

+ + +

स्कूल में छुट्टी दे कर जब मोतीलाल घर लौटे, तो मन उसी प्रकार क्षुब्ध था। धूप से नग्न चट्टानें उस घाटी में लम्बी-लम्बी गर्म साँसें ले रही थीं। हवा का नाम भी न था। चिड़ियाँ उड़-उड़ कर अपने तप्त परों को नदी में भिगो रही थीं।

रामलाल पटवारी को कल जो चिट्ठी कहीं गेहूँ का प्रबन्ध कर देने को लिखी थी, उसका उत्तर मोतीलाल की जेब में था। पटवारी ने लिखा था कि उसे ही आटा नहीं मिला है। कानूनगो साहब ने डिप्टी साहब के जो रुपये भेजे थे, उसी का गेहूँ अब तक वह नहीं भेज सका है; उससे वे रुपये भी खर्च हो गये हैं और अब भी गेहूँ न भेज सका, तो नौकरी से अलग किये जाने का डर है, उससे मोतीलाल को इस समय कोई आशा न रखनी चाहिए।

एक आदर्श अध्यापक बनने का मोतीलाल ने इन बीस वर्षों में भरसक प्रयत्न किया है। विद्यार्थी जीवन से ही प्रातःकाल ब्राह्म मुहूर्त में उठ कर, स्नान, और उसके उपरान्त पूजापाठ, का जो नित्य-नियम है वह अब भी चला आ रहा है। उसका कोई निकट सम्बन्धी नहीं है। पच्चीस वर्ष पहले हरिद्वार के उस बड़े कुम्भ में हैजे का जो प्रकोप हुआ था, उसमें उसके माँ-बाप और परिवार के सभी जन चल बसे थे, तब वह पढ़ता था। तब से आत्म-निर्भरता का जीवन उसका अब भी वैसा ही है। अब भी उसे किसी अन्य बाह्य सहायता की आशा ही नहीं। हिन्दी मिडिल की परीक्षा में वह प्रथम उत्तीर्ण हुआ था, इसीलिये ट्रेनिंग में ले लिया गया, और बी० टी० सी० कर लेने के बाद नौकरी भी उसे मिल गई। विवाह भी हुआ, और अब विधुर है। पर इन सात वर्षों से अधिक में पत्नी-मृत्यु का वह शोक अब बहुत कम हो गया है। मोतीलाल कभी सोचता है, शायद वह अच्छा ही हुआ, इससे उसका जीवन और भी संयमशील और धार्मिक हो गया है।

जब से उसकी नियुक्ति इस तीर्थस्थान पर हुई है, उसकी धार्मिकता और भी सतर्क हो गई है। यह ईश्वर की ही कृपा है कि बुढ़ापे में अलकनन्दा और मन्दाकिनी का वह संगम धर्मोपार्जन के लिए उसे मिला है, ऐसा विचार आ कर कभी उसके मन को ईश्वर के प्रति कृतज्ञता से गद्गद कर देता है। वे पर्वत, वे भद्दी-सी चट्टानें उससे जब-तब यह कहती जान पड़ती हैं, 'मोतीलाल तू हमें देख, तब स्वयं अपने ऊपर भी दृष्टि डाल। हमारे सम्मुख तू ऐसा ही लगता है, जैसे विशाल अट्टालिका पर रेंगता हुआ कीड़ा! हम निश्चय ही तेरी अपेक्षा

विशालकाय हैं, पर हम भी इस बड़े हिमालय के सम्मुख कंकड़-पत्थर से क्षुद्र हैं; स्वयं हिमालय, उससे निकली हुई गंगा, सिन्धु आदि चतुर्दिक् बहने वाली नदियाँ, उनसे सींचा हुआ यह सारा महाद्वीप भी इस बड़े ब्रह्माण्ड में, एक छोटे-से नक्षत्र का अंश मात्र है; और तब तू अपने को सोच। धूल के एक कण से भी कम, बिलकुल क्षुद्र तेरा अस्तित्व है। तब भला कितने क्षुद्रतम और हास्यास्पद हैं तेरे कार्य, और तेरा यह कहना, कि मैं अमुक कार्य कर सकता हूँ। कैसे उपहास का विषय है!'

आज भी उन तप्त चट्टानों को देख कर, स्कूल से लौटते-लौटते मोतीलाल सोचने लगा, 'बच्चों के लिए आटा जुटाने में ही मैं असमर्थ हूँ। मैं भला कर ही क्या सकता हूँ? ईश्वर, तेरा ही आसरा है। माँ-बाप की मृत्यु के उपरान्त अब तक तूने ही मेरी रक्षा की, अब भी करना।'

अपने घर के आँगन में पहुँच कर, उसने देखा, सुशीला की धोती सूख रही है। गोविन्द का धुला हुआ कुर्ता फट कर तार-तार हो चुका है। बटन टँकाने के लिए अब कहीं स्थान नहीं रह गया है। बड़े-बड़े छेद उन जगहों पर हो गये हैं।

सुशीला ने ये कपड़े धोये हैं, यह सोच कर, उसका मन और भी संतप्त हो गया। सोचा, 'कितना दुःख है इन मेरे बच्चों को! मैं कभी-कभी बड़ी निर्दयता कर देता हूँ। धोबी को देने के लिये यदि मेरे पास पैसे नहीं है, तो यह मेरा दोष है। इसके लिए मैं इन बच्चों को दंड ही देता क्यों हूँ? कपड़े मुझे धोने चाहिए थे।'

कमरे में प्रवेश करते ही गोविन्द ने स्लेट अलग रख दी। उसकी कक्षा पाँच की पढ़ाई, जो घर पर हो रही है, उसका ध्यान पिता जी के आने के ही समय उसे आता है।

अपने पिता के पाँवों से लिपट कर वह बोला—"बाबू जी, आज हम आटा ले आए। तीन पाव, डेढ़ सेर का मिला। अठन्नी इनाम में मिली थी। डाक्टर बाबू के अजायबघर के लिए हमने आज एक बड़ी मछली पकड़ी थी।" फिर करछुल को झट उठा कर उसने बतलाया—"इससे भी बड़ी थी।"

मोतीलाल का गला रुँध आया। मन-ही-मन बोले—"ईश्वर धन्यवाद है तुम्हें। अब दो-तीन दिन तक तो बच्चे रोटी खा सकेंगे।"

"अच्छा बाबू जी, एक छटाँक में कितनी रोटियाँ होती हैं?" गोविन्द ने मोतीलाल के कंधे पर हाथ रख कर कहा—"सुशीला कहती है, तीन छटाँक आटे में वह दस रोटियाँ बना लेगी। थोड़ा-सा चावल और चार रोटियाँ आप सुबह खायेंगे, और इतनी ही शाम। बाकी एक-एक रोटी हम दोनों बाँट लेंगे। सुशीला कहती है, वह चावल ही खायेगी। मेरे भी नये दाँत अभी निकले हैं। खब पक्के हैं ये। मैं भी भात खा लूंगा। दर्द मेरे मसूड़ों में कभी हो नहीं सकता। और इस प्रकार चार दिन को आटा हो जायगा। तब तक एक और इससे बड़ी मछली पकड़ लेंगे, तो आपकी तनख्वाह आने तक काम चल जायगा।"

आँसुओं के उफान को बरबस रोकते हुए मोतीलाल ने कहा—"हाँ, तो वह दशमलव का भिन्न तूने सरल कर लिया बेटा, कि तू मछली पकड़ने में ही रहा?

+ + +

उस दिन मोतीलाल जब नदी की ओर से लौटा, तो पक्षियों के झुंड-के-झुंड दोनों पुलों पर किलोल कर रहे थे। एकाएक हवा में ऊँचे उड़ कर वे एक दम नदी की ओर एक साथ गिर-से पड़ते, फिर पानी को क्षणभर छू कर एक पुल के नीचे से उस पार ऊपर की ओर उड़ कर चट्टानों की श्रेणियों तक उड़ जाते, और फिर जल की एक काली तीव्र तरङ्ग की भाँति दूसरे पुल के नीचे तक जा कर उसके दूसरी ओर से उसी प्रकार ऊपर उठ आते। डूबते सूर्य के स्वर्णालोक से चट्टानें नील आकाश की पृष्ठ भूमि पर एक ओर तो रङ्ग-बिरङ्गे रङ्गों से ढँकी थीं, और उनके दूसरी ओर चट्टानों की घनी छाया के कारण काला अन्धकार-सा छा गया था। चट्टानों की कगारों में जो छोटी-छोटी अनेक गुफाएँ थीं, उनके द्वारों पर सूर्य की तिरछी किरणें भाँति-भाँति के परदे-से लटका रही थीं। कहीं ये परदे स्वर्ण तारों से बने लगते थे, कहीं बिलकुल लाल, कहीं पीले और कहीं इन्द्रधनुष के रङ्गों से रंजित!

मोतीलाल का मन बड़ा प्रसन्न था। मार्ग में सफाई के दरोगा और उनके साथ जाते हुए कई और व्यक्ति मिल गए। अपने वस्त्रों से वे इस पर्वत-प्रदेश के रहने वाले ज्ञात न होते थे।

सफाई के दरोगा से 'जै राम जी की' हुई। ज्ञात हुआ कि ये यात्रा-मार्ग पर काम करने वाले भंगी हैं। देश की ओर से आए हैं। हरिद्वार के कुम्भ के उपरान्त यात्रियों की भीड़ इन पर्वतों की ओर केदारनाथ और बदरीनाथ के दर्शन करने आएगी, स्वास्थ्य-विभाग की ओर से उसीका यह प्रबन्ध हो रहा है।

सफाई के दरोगा ने कहा—"एक भंगी का वेतन इस साल चालीस रुपया माहवार है। इससे कम में मेहतर मिलते ही नहीं। दस रुपये मासिक वेतन पर मैं ही पिछले सालों इस यात्रा लाइन पर सैकड़ों मेहतरों की नियुक्ति करता रहा हूँ, और इस वर्ष यह हाल है, कि पचास से कम कोई माँगता ही नहीं। बूढ़े, बच्चे, औरत, मर्द सब को चालीस रुपया माहवार देना स्वीकार किया, तब इतने लोग आये हैं।"

मोतीलाल आश्चर्य से सुनता रहा। पुल के पास पहुँच कर मेहतरों ने एक साथ नारे लगाये, 'जय श्री बदरी विशाल की।' और चट्टानों पर ये तुमुल शब्द गूंज कर लौट आये—'विशाल की।'

दरोगा ने कहा—"और कुलियों की भी मजदूरी गवर्नमेंट की ओर से इस साल नियत हो गई है। तीन रुपये रोज से कम मजदूरी में कोई भी मजदूर इस ओर यात्रियों के साथ चलने को तत्पर न था। अब सरकार ने दो रुपया प्रतिदिन नियत किया है, दस मील तक के लिए। इससे अधिक चलने वालों को तीन रुपया प्रतिदिन। मैं कहता हूँ पंडित जी, कि हम लोगों को भी अपनी-अपनी नौकरियाँ छोड़ कर यात्रियों की सेवा में लग जाना चाहिए। इसमें पुण्य का पुण्य और मजदूरी करके जीविकोपार्जन भी हो जायगा। अब पच्चीस-तीस या पचास-साठ में तो गुजर हो ही नहीं सकती।"

मोतीलाल अब भी चुप रहा।

फिर दरोगा ने अलग ले जा कर उसके कान में कुछ कहा, उस रहस्य-भरी बात को सुन कर मोतीलाल के लिए संध्याकाल का वह स्वर्णालोक उस एक ही आघात से लुप्त हो गया, और चिड़ियों का वह सङ्गीत एकाएक अस्पष्ट गुंजन बन कर रह गया।

मोतीलाल का चेहरा थका हुआ-सा, कठोर और उसके होंठ उदास, विकृत-से हो गए।

वह रहस्यमय बात केवल इतनी ही थी, कि आज बङ्गाली डाक्टर के यहाँ माँस पका है और उस तीर्थ स्थान में मांसाहार जैसे अनर्थ का कारण हुए हैं मोतीलाल के बच्चे, उन्होंने एक मछली पकड़ कर डाक्टर को दी है।

चलते-चलते सफाई के दरोगा ने कहा—"समझा देना बच्चों को, पंडित जी। यह काम अच्छा नहीं हुआ।"

कमरे के अन्दर प्रवेश करते ही मोतीलाल ने कहा—"मैं ये रोटियाँ न खाऊँगा। एक प्राणी की हत्या करके तुमने यह भोजन पाया है।"

सुशीला चूल्हे पर रोटी सेक रही थी, और पास में बैठा गोविन्द एक रोटी बहिन से माँग कर खाने को तत्पर था।

खूंटी पर अपने कोट को टाँग कर, मोतीलाल ने लोटा डुबा, बाल्टी से पानी निकाला। वर्फ के गल-गल कर आने से नदी का जल उन दिनों बहुत ठंडा रहता था। लड़की ने हाथ-पाँव धोने के लिए रोज की भाँति चूल्हे के एक किनारे पर टूटे हुए उस काले कनिस्तर में पानी गरम कर रखा था, पर मोतीलाल ने क्रोध के आवेश में उस पानी की, लड़की के उस परिश्रम पूर्ण कार्य की, पूर्ण अवहेलना करके ठंडे पानी से ही हाथ-पाँव धोये, और चटाई पर पलथी मार कर, चूल्हे की ओर पीठ करके, संध्या करने बैठ गया।

पर आज उस उपासना में भी मन न लगा। मोतीलाल सोचने लगा—'सत्ताइस रुपये चौदह आने में मेरी जीविका नहीं चल सकती। पाँच सौ रुपया कुन्ती के विवाह में कर्ज लिया था, और उससे पहिले माधवी के विवाह में तीन सौ। छः रुपया सैकड़ा ब्याज देना पड़ता है, कुल अड़तालीस रुपये सालाना

चार रुपये माहवार उनको देना ही पड़ेगा। बाकी रहे तेईस रुपये चौदह आने। ढाई रुपया मकान का किराया। दो कमरे तो अवश्य होने चाहिए, इससे कम में ऐसा मकान नहीं मिलेगा। बस, कुछ ही आने, पास में रह जाते हैं। बाकी बीस रुपये वे सब-के-सब बनिये को दे देता हूँ। फिर भी तीन प्राणियों का खाना नहीं जुट पाता!'

उसी समय गोविन्द ने रो कर धीरे से सुशीला से कहा—"दीदी, मर गई होगी बेचारी मछली। डाक्टर साहब के पास उसे रखने के लिए उतनी बड़ी काँच की बोतल न रही होगी।"

सुशीला ने भी धीरे से कहा—"अब हमें पाप लगेगा उसकी मृत्यु का।"

उन रोटी-आटे के तुच्छ विचारों में भगवान की उपासना के बीच उलझ जाने के कारण मोतीलाल को मन-ही-मन ग्लानि हुई। बच्चों की वह फुसफुसाहट भी उसके कानों तक पहुँच गई। पर उन सब विचारों से अपने मन को अलग चीरते हुए उसने फिर गायत्री मन्त्र के जप में ध्यान लगाया।

'धियो यो नः प्रचोदयात्' —कह कर फिर वह रुक गया। हमारी बुद्धि को सन्मार्ग में प्रेरित कर बुद्धि का मेरा दोष नहीं। मैं बड़ी कुशाग्र बुद्धि का विद्यार्थी था। चौबीस सन् में मैंने टाउन स्कूल से प्रथम श्रेणी में हिन्दी मिडिल पास किया था। नार्मल स्कूल में भी मैं व्यावहारिक और भाषा ज्ञान, दोनों परीक्षाओं में सब से अव्वल आया। नौकरी भी मिल गई और तरक्की भी प्रतिवर्ष मिलती ही रही। भगवन्, तूने सदा मेरी बुद्धि सन्मार्ग में लगाई, पर आज इस सुशीला ने, इस गोविन्द ने एक जीव-हत्या कर के, इस पवित्र प्रयाग की भूमि में, वे आठ आने प्राप्त किये। आठ आने ले दुलारे बनिये ने छिपा हुआ आटा निकाल कर दे दिया। आटा वह उधार न देगा, नकद मोल लेने वाले ही बहुत हैं। उधार लेने वाले ग्राहकों की उसे आवश्यकता ही नहीं।

'धियो यो नः'—हमारी बुद्धि, मेरी ही नहीं, हम सब की, वसुधैव कुटुम्बकम। समस्त मानव-समाज की बुद्धि को सन्मार्ग में प्रेरित कर। इन बच्चों की बुद्धि? सुशीला ने कक्षा चार की परीक्षा पास कर ली है। गोविन्द भी पारसाल सात

वर्ष की छोटी आयु में कक्षा चार पास कर चुका है। एक वर्ष उसका भी योंही नष्ट हो गया। वुद्धि तो उसकी भी तीव्र है। पर पास में न कहीं मिडिल स्कूल है, न अंग्रेजी की पढ़ाई का प्रवन्ध। मुझे देहात में ही नौकरी करनी है। सदर की सभी पाठशालाओं में 'बुनियादी तालीम-याफ्ता' नये अध्यापकों को रखा जाता है। मैं भी बुनियादी शिक्षा उत्तीर्ण करने वेसिक कालेज जाता हूँ, तो कहाँ सुशीला रहेगी और कहाँ गोविन्द ? कौन उन्हें खाना देगा ?

तव अपने पिता को एक दम चुप-सा देख, और यह समझ कर, कि अब उनकी पूजा समाप्त हो गई, सुशीला ने पूछा—"तो वावू जी वह मछली मर गई क्या ?"

"मर गई ? मरती क्यों भला ?" मोतीलाल ने कहा—"उसे तो डाक्टर मुकर्जी ने स्वयं मार कर भक्षण कर लिया। उतनी वड़ी मछली क्या शीशियों में रखी जा सकती है ?"

और फिर यह सोच कर, कि आज पूजा ठीक नहीं हुई, मन इधर-उधर भटकता रहा, मोतीलाल ने एक वार और एकचित्त हो कर भगवान् में ध्यान लगाया। हवा में तैरता हुआ नदियों का गर्जन कानों में निरन्तर सायँ-सायँ शब्द करने लगा। मन्त्र पढ़ते-पढ़ते फिर मोतीलाल अनायास ही सोचने लगा, 'एक सप्ताह से बच्चे चावल ही खा रहे हैं। रोटी इन दोनों ने पिछले इतवार को खाई थी। भोजन की यह विकट समस्या, इससे भला वुद्धि कहाँ ठिकाने रह सकती है ! मँहगाई, एक असह्य वेदना-सी; चारों ओर से मुझे घेरे आ रही है। वेतन वही है—सत्ताइस रुपये चौदह आने। मेरा साथी प्रतापसिंह, एक-एक दर्जे में दो-दो वार फेल होता था, कभी पढ़ने में मन न लगाता था। उसने अपनी वुद्धि को सन्मार्ग में लगाने के लिए भगवान से कभी प्रार्थना न की होगी। आज वह सात सौ रुपया मासिक पाता है, सेना में नौकर है—लेफ्टिनेंट या उससे भी कुछ वड़ा अफसर।

'धियो यो नः प्रचोदयात्'—'तव हमारी वुद्धियाँ परिष्कृत हो कर किस लाभ की ? वह शिवचन्द, जो सदा शराब की भट्टी में ही दिखलाई देता था, जिसने अपने पिता की सारी सम्पत्ति शराव और जुए में उड़ा दी थी, जो चोरी के अपराध में भी पकड़ा गया था, आज सेना में जा कर, जमादार है। एक सौ पच्चीस पाता

है। हिंसक ! मैं जीव-हत्या की बात सोच रहा हूँ ! वह सैनिक ! हिंसा तो उसका धर्म है। सैनिक बनने में ही तब क्या सार्थकता है ? और सब कर्मचारियों को क्या यों ही भूखों रहना पड़ेगा ! मैंने भला कौन ऐसा अपराध किया, कि ऐसा अशान्तिमय दुःखी जीवन व्यतीत करना पड़ रहा है ? एक कुली की मजदूरी दो-तीन रुपया प्रतिदिन नियत है, उन मजदूरों, अनपढ़ों का ध्यान अफसरों को अधिक है। उनके लिए नियम बन गए हैं, कि दो रुपये से कम वे न पावें। चट्टियों पर सफाई रखने के लिए स्वास्थ्य-विभाग की ओर से जो भंगी नियुक्त हुए हैं, उनका भी वेतन चालीस पये मासिक है। खाना और कपड़ा वे यात्रियों से मुफ्त ही प्राप्त कर लेंगे, हमारे इस परिवार के लिए, एक शिक्षक के दिन भर के परिश्रम के लिए, मेहतर से भी कम मजदूरी !

'पर मैं यह क्या सोचने लगा ? आज अब मुझ से एकाग्रचित हो, संध्या होगी नहीं।' यह मन-ही-मन कहता, मोतीलाल झुंझला कर उठ गया।

चन्द्रमा का प्रकाश खुले दरवाजे से कमरे के अन्दर तक आ रहा था। सुशीला अब भी चूल्हे के पास बैठी ऊंघ रही थी। गोविन्द वहीं चटाई पर सो गया था। उसके पास ही रोटी और उसका एक टूटा टुकड़ा ज्यों-का-त्यों वैसा ही पड़ा था। एक आँख से बड़ा-सा आँसू बह कर एक-चमकीली, गीली, श्वेत-सी रेखा नाक के ऊपर तक बना कर सूख गया था।

सुशीला अपने पिता के पैरों का शब्द सुन कर ऊंघते-ऊंघते चौंक कर उठ गई।

"तो बाबू जी, आप खिचड़ी खा लीजिए। हमें अपने पाप का प्रायश्चित्त तो करना ही है, हम भूखे ही रहेंगे, गोविन्द भी ऐसा ही कह रहा था।" उसने कहा।

"नहीं, बेटी !" मोतीलाल ने कहा—"पाप तो मैं कर रहा हूँ, जो इतना कमा नहीं पाता, कि तुम दोनों को पेट भर खिला सकूं।" तब एक उद्गार उठ कर उसके कंठ को झुलसा-सा गया। वाष्पमय धुंधली आँखों को किवाड़ की ओट में पोंछ लेने के लिए वह शुभ्र चाँदनी में बाहर निकल आया।

चट्टानें, श्वेत बड़ी-बड़ी अस्थियों-सी, उस चाँदनी में खड़ी एक टक उसकी

ओर देख रही थीं, मानो कह रही थीं—"मोतीलाल, तू अकर्मण्य है। इस बड़े ब्रह्माण्ड में तेरा क्षुद्र अस्तित्व उपहास का विषय है। यहाँ हम बड़ी-बड़ी भारी चट्टानें हैं, बड़े-बड़े विशाल पर्वत हैं, पर्वतों की गगन-चुम्बी श्रेणियाँ हैं। हो सकता है, हम भद्दी, दृष्टि-कटु, ऊबड़-खाबड़ दीखती हों, भयानक-सी लगती हों, पर यही हमारे अस्तित्व का रहस्य है। परिष्कृत रहने की आवश्यकता यहाँ नहीं। मनुष्यों को ही देख, प्रतापसिंह, और शिवचन्द-जैसे लोग बड़े योद्धा हैं। उनसे भी भयंकर और बड़े वीर हैं वे चर्चिल, हिटलर और कितने ही। और इन बड़े-बड़े व्यक्तियों की ही यहाँ सत्ता है। इस भयंकर, विकराल, विश्व में तुझ-जैसे एकान्त अध्यापक का स्थान नहीं के बराबर है। तेरी खबर यहाँ किसे? तू स्वावलम्बी होने का दम्भ करता है, निष्कपट, सत्यवादी बनने का तेरा प्रयास! कौन तू और कैसा तेरा प्रयास!"

मोतीलाल ने मन-ही-मन कहा—'ये अबोध बालक पाप-पुण्य की मीमांसा क्या जानें! मैं बड़ा पापी हूँ। ईश्वर क्षमा करना। जो होना था हो गया। बच्चों ने इतने परिश्रम से वह मछली पकड़ी। बड़ी आशा के बाद पुरस्कार मिला। बड़ी उत्कंठा से रोटी बनाई, कि खायेंगे और अपने अधम बाप का भी, दुःख दूर करेंगे। और मैंने उस रोटी से भी उन्हें वंचित कर दिया। गोविन्द ने रोटी तोड़ कर वैसी ही छोड़ दी है। मैं तो स्वयं अकर्मण्य हूँ और उन्हें उनके अपने परिश्रम के फल से भी वंचित कर रहा हूँ।'

यह विचार सहसा मोतीलाल के रोटी न खाने के दृढ़ निश्चय के संतुलन को गड़-बड़ कर गया। पर केवल क्षण भर के लिए। दूसरे ही क्षण उसकी दृष्टि सुशीला पर पड़ी, वह अपनी बड़ी-बड़ी आँखों से उसीकी ओर प्रश्नात्मक दृष्टि से देख रही थी, कि अब पिता जी की क्या आज्ञा होती है।

अपनी लड़की की उन बड़ी-बड़ी नींद के भार से बोझिल, अलसाई आँखों को, चूल्हे के पास बैठी रहने से तप्त रक्ताभ कपोलों को देख कर मोतीलाल सोचने लगा, 'आज रोटी के लोभ का संवरण न कर जो बच्चे एक जीव की हत्या का कारण हुए हैं, और आज जिस पाप से, मुझे अपनी विवशता के कारण, आँख बचानी

पड़ रही है, कल वे बच्चे इससे भी दुष्कर पाप न कर बैठें, और सुशीला, जो यह दिन-प्रतिदिन बड़ी होती जा रही है, अपने पिता के क्षुधा-निवारणार्थ न जाने किस प्रलोभन में आ जाय !' इस विचार से एकाएक मोतीलाल सिहर उठा । शीघ्र बड़ी तीव्रता से यह विचार आ पड़ा था, अब उससे आगे सोचने का भी साहस मोतीलाल को न हुआ । उसे ऐसा भास हुआ, मानो वह मध्याह्न की चमचमाती धूप से निकल, गहरे, अन्धेरे कमरे में आ गया है । मस्तिष्क के ज्ञानतन्तु तब एकाएक अपना-अपना मार्ग बन्द कर उससे कह गए, 'अब यह फिर न सोचना ।'

उस विचार को एकाएक अन्दर ही अन्दर समेट कर बिलकुल भूल जाने का प्रयत्न करते हुए मोतीलाल धीरे से चारपाई पर बैठ गया । उसने आँखों के चारों ओर छाये उसी अन्धकार में सम्बोधन कर कहा-"बेटी, खिचड़ी बना ली हो तो गोविन्द को खिला दे । तू भी चाहे, तो खा ले । तुम दोनों का दोष नहीं । हत्या तो तुमने नहीं की । पर इस पुण्य-भूमि में जीव-हत्या आज जो हुई, वह पाप अक्षम्य है । उसका अपराधी मैं ही हूँ । मेरी ही चिन्ता कर के तुमने वह आटा प्राप्त किया । तुम दोनों खा लो । मैं तो उपवास करूँगा ही ।"

बाहर वे चट्टानें उसी प्रकार शुभ्र, धवल चाँदनी में अपने बल पर बसने वाले उन प्राणियों के क्षुद्र दुःख-सुख की दुनिया पर हँस रही थीं । सहस्रों वर्षों से वे वैसी ही खड़ी हैं । कई राज्यों को बनते और बिगड़ते उन्होंने देखा है । पर वे जैसी तब थीं अब भी वैसी ही हैं । सहस्रों वर्षों से जो क्रम उनका चला आया है, वैसा ही चलता आ रहा है । आज भी उन पर उन अनेक घाटियों में बह कर आने वाली दोनों नदियों के उच्छ्वास जा कर टकराए । रात्रि के शीत से वह ओस में परिवर्तित हुई । धीरे-धीरे वह ओस भी उन चट्टानों पर हिम के रूप में जम कर वैसी ही कठोर, पत्थर-सी हो गई ।

भूख

उस भारतीय शिष्ट-मंडल के साथ गए हुए मेरे हिन्दू मित्र पंडित विट्ठल राधानन्दनन् ने यह अद्‌भुत कहानी सुनाई।

न्यूयार्क के बड़े-बड़े होटलों में शाकाहारी भोजन मिलना दुष्प्राप्य था। मैंने इसीलिए उन होटलों में जाना छोड़ दिया। हिन्दुस्तानी भाई यद्यपि और सब बातों में मेरे साथ सहानुभूति प्रदर्शित करते थे, और अवसर पड़ने पर सब प्रकार की सहायता के लिए तत्पर रहते थे; पर वे भी मेरे कट्टर शाकाहारी होने से चिढ़ते थे। खान-पान में सभी भारत-प्रवासी अमरीकन नागरिकों से किसी भाँति भिन्न न थे; पर मैं अपने सात महीने के इस प्रवास में बराबर शाकाहारी रहा। एक बार राकी पर्वत की यात्रा में मुझे अवश्य कठिनाई का सामना करना पड़ा, जब कि तीन दिन तक मुझे बिस्कुट, मक्खन, डबल रोटी और फल-जैसी कोई भी चीज न मिल सकी। दो दिन मैं अपनी भूख बराबर सहन करता रहा, और तीसरे दिन जब मुझसे न रहा गया, तो मांस के शोरबे में उबले आलुओं को खूब अच्छी प्रकार पानी से चार-पाँच बार धो कर मैंने मुंह में डाल लिया। पर मुझसे वे आलू भी न निगले गए, और मैंने भूखे ही एक दिन और काट दिया। मेरे साथी मेरी इस हठधर्मी से अवश्य चिढ़ गए, और मुझसे मिस्टर सिंह ने बहुत बुरा-भला कहा। पर इस तीन दिन के उपवास का फल अच्छा ही हुआ। यह आप इस घटना से, जिसका मैं वर्णन कर रहा हूँ, अवश्य पता लगा लेंगे, कि इतनी कठिन परीक्षा के उपरान्त मुझे जिस महापुरुष के साक्षात् का सौभाग्य प्राप्त हुआ, वह कोई साधारण व्यक्ति न था।

यह महापुरुष एक अमरीकन डाक्टर था। अगले दिन भारत-प्रवासियों की जो सभा हुई, उसमें वह भी आमंत्रित थे। पिछली दूसरी बड़ी लड़ाई में वह

हिन्दुस्तान आए थे, और कई वर्ष तक उन्हें पूर्वी बंगाल और आसाम की छावनियों में काम करना पड़ा था। भारत और भारतवासियों के प्रति उनका अपार स्नेह था, और अपनी अचल सम्पत्ति का एक प्रमुख भाग उन्होंने अमरीका में रहने वाले भारतीयों के हितार्थ अर्पित कर दिया था। भारतवासियों को अमरीका में उस देश के नागरिक बनने में जो कठिनाइयाँ थीं, अमरीकन कांग्रेस में उनके निवारणार्थ प्रयत्न करने में इन डाक्टर साहब का बहुत कुछ हाथ था। और अपने नगर के प्रमुख सिटी काउंसिलर होने के कारण उनका अपने पड़ोस की स्टेट्स के तमाम कांग्रेस-मेम्बरों पर अच्छा प्रभाव था। इसीलिए जिस वर्ष मैं अमरीका गया, उससे एक वर्ष पूर्व अमरीका में भारत-प्रवासियों को जो सुविधाएँ देने का कानून सिनेट ने पास किया, उसका इन्हीं डाक्टर साहब को श्रेय है।

उस सभा में मेरा परिचय जब डाक्टर साहब से कराया गया, तो सिंह साहब ने अपनी उसी चिढ़ के कारण, या मेरा उपहास करने की इच्छा से कहा—"देखिए साहब, यह हमारे शाकाहारी डाक्टर विट्ठल हैं। इन्हें भूख का विशेषज्ञ समझिए, यद्यपि आज की सभा में यह भारतीय शिक्षा-प्रणाली पर बोलेंगे। ये तीन दिन से भूखे हैं। इन्हें रेल के लम्बे सफर में घास या दाना कहीं नहीं मिला। और आज कई दिन के उपवास के उपरान्त आड़ू की पुडिंग और उबाली हुई गोभी ही इन्हें नसीब हुई। अब की बार युनेस्को में शाकाहारियों को भी प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए। विट्ठल उनकी माँगें पेश करेंगे और भूख के अपने अनुभव सुनाएँगे।"

डाक्टर साहब यह जान कर, कि मैं कट्टर शाकाहारी हूँ, बहुत प्रसन्न हुए। बड़े स्नेह से उन्होंने मुझसे हाथ मिलाया। अगले दिन मुझे अपने घर पर भोजन के लिए आमंत्रित किया और कहा—"यद्यपि मैं शाकाहारी नहीं हूँ, पर मैं बहुत दिनों से शाकाहारी बनने का प्रयत्न कर रहा हूँ। अब मांस या अण्डे की मात्रा मेरे भोजन में न्यूनतम होती जा रही है। यदि परमात्मा ने चाहा, तो शायद एक दिन मैं भी आप की ही भांति निरा शाकाहारी हो जाऊँगा।"

और इस प्रकार जिस समय मेरा शाकाहारी बनने का साहस सहसा समाप्त

हो जाना चाहता था, और यह सम्भव था, कि मैं अपने मित्रों के दबाव के कारण अथवा अपनी असमर्थता या अदूरदर्शिता से; क्योंकि उस लम्बी यात्रा के लिए पहले ही से शाकाहारी भोजन की व्यवस्था न कर लेना मेरी ही अदूरदर्शिता थी, अपना भोजन 'आपत्ति काले मर्यादा नास्ति' की उक्ति का आश्रय ले कर बदल लेता और शायद मांसाहारी हो जाता। इन अमरीकन महापुरुष की उसी निम्न-लिखित कहानी ने मुझे बचा लिया, तब से मैं अपने भोजन में अब तक उसी आदर्श का पालन करने में सफल हुआ हूँ।

उस अमरीकन नगर में, जो लगभग देहात का ही एक कस्बा था, न तो हिन्दुस्तानी मसाले प्राप्त होते थे और न घी-तेल-जैसी कोई वस्तु। पर दवा बेचने वाले के यहाँ से खरीदे हुए जैतून और नारियल के तेल में बनी पकौड़ियाँ, कोंपलों का साग तथा आलू-टमाटर की शोरवेदार तरकारी और कागज की भांति पतली चपातियाँ, जो उस दिन उन डाक्टर साहब के घर पर खाने को मिलीं, किसी हिन्दुस्तानी घर में बने भोजन से कम स्वादिष्ट न थीं। उस दिन मेरे आतिथ्य की सम्भावना से उस परिवार में सभी को निरामिष भोजन करना पड़ा। इससे मेरा हृदय उन सज्जन के प्रति श्रद्धा से गद्‌गद् हो गया।

मैंने देखा है, कि अमरीकन, योरपियनों, और विशेषकर अँगरेजों की भाँति, गम्भीर प्रकृति के नहीं होते। जहाँ आप व्यक्तिगत जीवन के विषय में इँगलैण्ड में अपने मेज़बान से उसके स्वाभाविक या आत्माभिमान-जन्य गाम्भीर्य के कारण कोई प्रश्न नहीं कर पाते, वहीं अमरीका में अपने को पारिवारिक जनों से परिचित बनाने के लिए स्पष्टतया और सीधी बातें करनी आवश्यक हैं। आप अपने मेज़बान की पत्नी के सुन्दर बालों की सुन्दरता का यदि तटस्थ हो कर मन-ही-मन पान करने लगेंगे, या अपनी ही आँखों को सुख देने लगेंगे, तो आपका मेज़बान अवश्य बुरा मान जायगा। आपके लिए, मैं जहाँ तक अमरीकन परिवारों को समझ सका हूँ, अपने अनुभव से कहता हूँ, कि यह कहना आवश्यक होगा—'श्रीमती जी आपके बाल बहुत सुन्दर बने हैं। अवश्य आप बालों की किसी प्रमुख व माहिर से परामर्श ले कर इतने सुन्दर बाल कटवाती हैं।' मेज़ पर पड़े गुलदस्ते को देख

कर यदि आपका चित्त प्रसन्नता से नाच उठा है, तो आपको कहना ही होगा—'यह गुलदस्ता बहुत ही कलात्मक ढंग से सजाया गया है। इसमें जो मौलिकता आ गई है, उसे मैंने बड़े-बड़े घरों में नहीं देखा।' इस प्रकार आपके मन में अपने मेज़-बान की जिस वस्तु को देख कर जो भाव उत्पन्न हों, उसे स्पष्टतया, सीधी भाषा में यदि आप व्यक्त कर दें, तो शीघ्र ही उस अमरीकन परिवार के बच्चे-बच्चे से हिल-मिल जायँगे, और वह आपको अपनी सर्वप्रिय वस्तुएँ दिखलाने लगेगा, तथा अपने हृदय के गूढ़तम रहस्य भी आपके सम्मुख रख देगा।

उस दिन भी मैंने बात-की-बात में यह पता लगा लिया था, कि तरकारी के लिए एस्परागस की कोंपल आज के भोजन के लिए किस प्रकार, कहाँ से आई। तेल का कारखाना कस्बे में किसका है, और इस तेल में मिलावट क्या-क्या हो सकती है। अमरीकन बच्चे इस तेल से क्यों डरते हैं। सेब के दो दाने क्यों पूरे एक डालर में खरीदे गए, और पकौड़ियाँ बनाने के लिए बेसन किस प्रकार प्राप्त किया गया। अमरीकन नारियल और हिन्दुस्तानी नारियल के गुणों में क्या अन्तर है। कमरे के फ़र्श पर पड़ा कालीन दार्जिलिंग में किस तिब्बती व्यापारी से खरीदा गया है। तिब्बत के लोगों की वेश-भूषा योरोप के मध्यकालीन सभ्य समाज की वेश-भूषा से किस प्रकार बिलकुल मिलती-जुलती है।

और तब इतनी सब छोटी-मोटी बातों से हमारे दो मानव हृदयों के बीच का कृत्रिम व्यवधान, जो किसी भद्र अमरीकन से वार्तालाप करने के पूर्व इन दो मानवों की मातृभूमि के बीच, हिन्द महासागर और अन्धमहासागर से भी अधिक अथाह और असीम जान पड़ता है, न जाने कब लुप्त हो गया और मैंने ढाढ़स बाँध कर उनसे पूछ ही डाला, कि आपने शाकाहारी बनने का निश्चय क्यों किया?

वे थोड़ी देर चुप रहे। उनकी आँखें किंचित् संकुचित-सी हो गईं। माथे पर बल पड़ गए। मैं मन-ही-मन समझ गया, अपनी इस बात को बतलाने में उन्हें बड़ा संकोच हो रहा है, और तब मुझे न जाने क्यों यह लगा, कि शायद मैं यह प्रश्न पूछ कर कोई अशिष्ट बात कर बैठा हूँ।

पर उनकी मुद्रा शीघ्र ही प्रकृतिस्थ हो गई, और वे बोले—"मैंने शाकाहारी बनने का निश्चय क्यों किया, यह प्रश्न स्वयं मैंने आज तक अपने से नहीं पूछा। पर मेरे हृदय में बार बार यह प्रेरणा होती रही कि मनुष्य ज्यों-ज्यों सभ्यतर होगा, वह अपने जीवित रहने के लिए दूसरे की हत्या करना अनुचित ही समझता जायगा। प्रमुख अँगरेज विद्वान् एच० जी० वेल्स के एतद्सम्बन्धी लेखों का शायद यह प्रभाव हो; पर मेरा निश्चय एक साधारण घटना से सम्बन्ध रखता है। यह घटना वास्तव में, जैसा मैं आपसे वर्णन करूँगा, घटी या नहीं; यह कहना कठिन है। इसे एक गल्प या कहानी ही समझिए। हिन्दुस्तान में शायद कभी कोई ऐसा अभिनय मैंने देखा होगा, अथवा मेरी पढ़ी हुई किसी कहानी का यह प्रभाव हो। जो भी हो, इसका मुझपर बड़ा प्रभाव पड़ा। बहुधा आप किसी अच्छे उपन्यास को पढ़ कर, नाटक या अभिनय को देख कर एकाएक अपने अपरिपक्व विचारों के किसी सूत्र को, जो आपकी अन्तःचेतना में कहीं सुप्त, शिथिल और अनिश्चित-सा पड़ा था, एकाएक व्यवस्थित कर के सुदृढ़ कर लेते हैं। यद्यपि सारे अभिनय या उपन्यास में कोई भी घटना या पात्र सच्चा नहीं होता, फिर भी उसका गहरा प्रभाव आपके अन्तस्तल पर पड़ जाता है। यही बात मेरे शाकाहारी होने के निश्चय में भी समझ लीजिए। विचार अवश्य कहीं अनिश्चित, विकेन्द्रित और सुप्त-से पड़े होंगे, और इस असाधारण बंगाली गल्प ने उन्हें परिपक्व बनने में सहायता दी।"

वह फिर कुछ क्षण मन-ही-मन शायद सोचते रहे कि कहानी किस छोर से आरम्भ की जाए। उन अमरीकन डाक्टर ने इस प्रकार कहानी आरम्भ की:

जब रेलगाड़ी उस गाँव के पास से गुजरती थी, तो भूखे देहातियों का झुंड उसपर टूट पड़ता था। बंगाल में उस समय दुर्भिक्ष का भयंकर प्रकोप था। अन्न के दाने-दाने को लोग तरसते थे। बहुधा ऐसा होता था कि हिन्दुस्तानी सैन्य-विभाग की स्पेशल ट्रेन उस स्टेशन पर दिन के लगभग दस बजे आती थी, और सिपाही कतार बाँधे किचन-वन तक जा कर अपने अल्यूमीनियन के आयताकार छोटे-से डिब्बों में दाल भर कर ले आते थे। बड़ी-बड़ी चार-पाँच रोटियाँ भी उन्हें

मिलती थीं। देहाती उन सौभाग्यशाली सिपाहियों की ओर, जिन्हें रेल में ही सफ़र करते-करते खाना मिल रहा था, टुकुर-टुकुर देखते। और स्टेशन छोड़, जब वह लंबी गाड़ी उजड़े हुए गाँवों के बीच धड़धड़ाती चली जाती, मरे हुए जानवरों की लाशों पर झपटती लोमड़ी-सी अपनी भयंकर गर्जना से एक भयानक सिहरन पैदा कर देती, तब भनभनाती मक्खियों की भीड़-सी भूखों की टोलियाँ जूठन को बटोरने के लिए कुहराम मचा देतीं। अपने परिवार की याद करता, गाड़ी में बैठा-बैठा बाह्य दुनिया के वातावरण से उदासीन विरही-सा कोई अँगरेज अफसर अपना लंच करता और अपने को बड़ा अभागा-सा समझता हुआ संतरे, केले आदि फलों को खा कर उनके छिलकों को प्लेटफार्म पर फेंक देता। ये छिलके उस भीड़ में किसी भाग्यशाली देहाती को मिल जाते और वह अपनी कई दिन की भूख को उन्हीं छिलकों से शान्त करने का प्रयत्न करता। मुझे कभी-कभी गाड़ी पर किसी बीमार अफसर से मिलने जाना पड़ता और यह दृश्य देख कर रोना आ जाता। इन्हीं ग्रामीणों का अन्न छीन कर हम खा रहे थे, और उन्हें भूखा मार रहे थे।

स्टेशन के उस पार रेल का एक बड़ा फुल था। उस लाल-लाल पुल पर खड़े हो कर दूर-दूर तक बंगाल के सुघर गाँवों के अविचल, शान्त और सौम्य जीवन का दर्शन हो जाता था। बहुधा मैं अपनी दूरबीन ले कर घूमते-घूमते उस पुल पर खड़ा हो जाता और प्रातःकाल देहातियों को अपनी नाव पर यात्रा करते, तालाब पर पानी भरते, मछलियाँ पकड़ते या खेतों में काम करते देखता रहता। पुल के दक्षिण की ओर ब्रह्मपुर नाम का वह गाँव था, जो सब से अधिक स्वच्छ और रमणीय लगता था। हम लोगों को ज्ञात हुआ, उस गाँव में एक कन्या पाठशाला है। और उस पाठशाला की प्रमुख संचालिका के ही कारण वहाँ सभी मकान लिपे-पुते रहते हैं; सड़कें साफ़-सुथरी रहती हैं; बावड़ियों का जल गन्दा नहीं होने पाता, और बच्चे अपने से बड़ों का आदर करते हैं और गन्दी गालियाँ नहीं सीखते हैं।

सरकार ने मनमाने दाम दे कर जब सारे देहात का चावल अपनी पल्टनों

को खिलाने के लिए खरीद लिया, तो उन ग्रामीण औरतों ने अपने-अपने मर्दों को, जो कमा सकते थे, नौकरी की खोज में बड़े-बड़े नगरों की ओर भेज दिया। कई लोग हमारी छावनी में काम माँगने आये, और निराश हो कर फिर कलकत्ता और हावड़ा की ओर चले गए। धीरे-धीरे चावल दुष्प्राप्य हो गया। जो लोग शहरों में नौकरी पा गए थे, अपने बच्चों के लिए रुपए भेजते रहते थे। पर कुछ ही दिन बाद रुपए का कोई मूल्य न रहा, और देहात में अन्न कहीं किसी भाव भी नहीं मिलता था।

एक दिन हमारे अस्पताल में सिस्टर की सेविका ने, जो ब्रह्मपुर की रहने वाली थी, अपने गाँव की पाठशाला के लिए बिस्कुट के दो डिब्बे माँगे। स्वच्छता के आदेश के प्रति अपनी अवहेलना पर सिस्टर की डाँट खा कर वह सेविका कई दिन पहले बतला चुकी थी, कि वह अछूत कही जाने वाली जाति में से है, और कितनी ही साफ-सुथरी क्यों न रहे, बड़ी जाति के लोग उसका छुआ भोजन नहीं करेंगे। इसलिए हमारा कौतूहल बढ़ा, कि आज वह बिस्कुट क्यों माँग रही है। गाँव में उसके कोई न था। उसके पति ने एक मेहतरानी से प्रेम कर के उसे त्याग दिया था और उसका बाप किसी पल्टन के साथ लड़ाई में चला गया था। पूछने पर ज्ञात हुआ कि पाठशाला की अध्यापिकाएँ भी जीविकोपार्जन के लिए पश्चिम के किसी बड़े शहर में चली गई हैं, केवल संचालिका रह गई है। वह भी चली जाती, पर पाठशाला के छात्रावास में कई अनाथ बच्चे एकत्र हो गए हैं। संचालिका स्वयं घास की कोंपलों और कन्द-मूलों पर दिन काट सकती है, पर दो-तीन बीमार औरतें हैं और संचालिका का छोटा भाई भी है, जिन्हें कल से उबले कच्चे अंजीर खा जाने से दस्त आ गए हैं। हालत बहुत खराब है। उनके लिए बिस्कुट या ऐसी ही कोई खाने की वस्तु चाहिए। सेविका ने यह भी बतलाया कि रोग की अवस्था में खान-पान का विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। आरोग्य होने पर शुद्धि या प्रायश्चित्त-जैसी कोई क्रिया पर्याप्त समझी जाती है।

सिस्टर ने उस दिन बिस्कुट के साथ ही केण्टीन से कार्नफ्लेक के चार डिब्बे दे कर जिस सहृदयता का परिचय दिया, उससे सेविका का उत्साह बढ़ गया और

कन्या-पाठशाला की माँग बढ़ती गई। सिस्टर की वह नौकरानी प्रति दिन शाम को अपने घर जाने से पहले रसोई में जाना न भूलती, और रोटियों के टुकड़े, बचा हुआ टोस्ट या चावल माँग ले जाती। एक दिन रविवार को उस सेविका ने आ कर बतलाया, कि संचालिका स्वयं बहुत बीमार है और अब बच नहीं सकती। यदि सिस्टर दवाई के अपने बड़े बक्स को साथ ले कर गाँव तक चलने का कष्ट कर सके और यदि उसके पहुँचने तक वह जीवित हो, तो शायद उसके प्राण बच जायँ। और यदि बड़े डाक्टर साहब साथ चले चलें, तो गाँव के कई लोगों के प्राण बच जायँगे।

हम लोग कई दिन पहले ही एक बार उस सुन्दर गाँव में जाने का विचार कर रहे थे। पर अपनी वेश-भूषा और बंगाली भाषा के अज्ञान के कारण अब तक उस ओर जाने में हिचक रहे थे। इसीलिए वे सेविका के कहने पर तुरन्त चल पड़े। कन्या-आश्रम में पहुँच कर हमने देखा, अचानक हैजे के आक्रमण से कई बालिकाएँ मर चुकी थीं और तीन उसी दिन सुबह बीमार हुई थीं। संचालिका की दशा इतनी बुरी न थी। वह उठ-बैठ सकती थी। लेकिन इतने दिनों तक यथोचित भोजन न मिलने के कारण उसका शरीर बहुत ही अशक्त हो गया था।

हम लोगों ने सोचा था, कि शायद संचालिका कोई वृद्ध महिला होंगी। पर वह बेचारी कठिनाई से पच्चीस वर्ष की रही होंगी। हमें ज्ञात हुआ कि वह बाल-विधवा थीं। पिछले सात वर्ष से, जब से उनके पति का देहान्त हुआ था, उन्होंने यह आश्रम खोला था। श्वेत साड़ी के अन्दर उनका कृश, किन्तु उज्ज्वल गौर शरीर, सात्विक जीवन की तपश्चर्या से तप्त हो कर, जो पहले और भी दृढ़ और स्वस्थ रहा होगा, इस रुग्णावस्था में भी कुछ कम प्रभावशाली न था। लम्बे-लम्बे खुले केश, बड़ी-बड़ी काली, उज्ज्वल आँखें और विशाल मस्तक, जिस पर चन्दन पुता हुआ था; हमें अनायास ही अपने ही देश के किसी बड़े धार्मिक मठ की 'नन' (भक्तिनों) की याद दिलाता था। हम दोनों के सिर श्रद्धा से अनायास ही उनके सम्मुख झुक गए। क्षीण, मन्द हँसी से उन्होंने हमारा स्वागत किया।

रोगी बालिकाओं को नमक के घोल की सुइयाँ लगा कर हम दोनों आश्रम

में घूमे। सिलाई, कताई, बुनाई के साथ ही अनेक घरेलू शिल्प उस लिपे-पुते कच्चे अहाते में थे, जो इस अकाल की भगदड़ के कारण अब किसी उजड़ी दूकान-से लगते थे। छोटा-सा बगीचा भी पास ही था, जिसमें सरसों, राई आदि के पौधे उगाए गए थे। हमें ज्ञात हुआ, कि इन्हीं सागों के पत्तों को खा कर आश्रम के पच्चीस प्राणी पूरे एक सप्ताह से जीवित रहने का प्रयत्न कर रहे थे। संचालिका उन्हें कच्चे खाती थीं। छोटी बालिकाओं को उबाल कर उनका रस दे दिया जाता था। उबली हुई तरकारी प्रौढ़ बालिकाओं को दे दी जाती थी। चावल या अन्न के दाने यदि कहीं से प्राप्त हो जाते थे, तो वे भी इन्हीं हरी पत्तियों के साथ उबाल दिए जाते थे।

तब हमें अपने जीवन पर, अपनी समृद्धि और भोजन की सुलभता पर, मन-ही-मन बड़ी ग्लानि हुई। पर हम कर ही क्या सकते थे? छावनी से कोई वस्तु बाहर नहीं भेजी जा सकती थी।

ड्यूटी के बाद उस दिन शाम को जब हम लोग अस्पताल पहुँचे, तो ज्ञात हुआ कि अपने राशन में से जो कुछ थोड़ी-बहुत वस्तुएँ बचा कर सिस्टर ने उन बीमार बच्चों के लिए भेजी थीं, उनका समाचार पा कर गाँव की और भी कई औरतें अपने मृतप्राय बच्चों को ला कर संचालिका के पास उसी अन्न की आशा पर छोड़ गईं, और स्वयं उस लंगर में माँगने चली गईं, जिसे व्यापारियों की एक संस्था ने ब्रह्मपुर से लगभग दस मील दूर के एक गाँव में उसी दिन खोला था।

वह आश्रम भी एक भूखे व्यक्ति की भाँति कई दिनों तक छटपटाता रहा। अंत में जब एक के उपरान्त कई बालिकाएँ भूख की शिकार हो गईं, तो संचालिका और उसके छोटे भाई के अतिरिक्त अन्य सभी मृतप्राय व्यक्ति लंगर वाले गाँव की यात्रा को चल पड़े। संचालिका का भाई बीमारी के बाद बड़ा ज़िद्दी हो गया था। उसे साग या उबली हरी भाजी के रस से बेहद चिढ़ हो गई थी। वह चावल या रोटी के लिए बार-बार चिल्लाता था। संचालिका अपने छोटे भाई के सिर पर हाथ रख, उसे बहुत समझाती-बुझाती; लेकिन वह न मानता। उसकी भूख समझाने-बुझाने से तो शान्त हो नहीं सकती थी। इसीलिए संचालिका कई बार

उसके लिए बिस्कुट, रोटी के टुकड़े मँगा ले जाती थी। कुछ दिन उपरान्त एक बार हमारे अस्पताल से गाँव की ओर जाते समय भूखी औरतों ने उसे मारा और न केवल उसके पास रक्खे अन्न को छीना, किन्तु कानों की चाँदी की बालियाँ और हाथ के मोटे कड़ों से भी उसे मुक्ति दे दी। तब से उसका देहात की ओर जाना बन्द हो गया।

उस गाँव से बाहर न जाने का प्रण तोड़ कर अब उस संचालिका को स्वयं अपने भाई के लिए अन्न माँगने बाहर जाना पड़ा। गाँव से बाहर न जाने का प्रण उस पवित्र महिला ने इसीलिए किया होगा, कि वह अपना सारा समय उस गाँव को आदर्श बनाने में लगा दे। वह बेचारी इस बीच अपने भाई के लिए भोजन की व्यवस्था कर देने के लिए एक बार मेरे पास आई। ऐसा करने में उसे कितना संकोच हो रहा था, यह मैं नहीं बतलाऊँगा; पर लौट कर वह भी गाँव तक सकुशल न जा सकी। रेल की गुमटी के पास, मिलिटरी स्पेशल की प्रतीक्षा में बैठे भूखों ने उसकी पोटली में छिपे अन्न की सुगन्ध दूर ही से जान ली और टोस्ट के उन दो टुकड़ों और कार्नफ्लेक के उस डिब्बे को छीन लिया। वह बेहोश हो कर वहीं गिर पड़ी।

अगले दिन अस्पताल में स्टेशन-मास्टर का पत्र आया, कि संचालिका रेल से कट गई है। अभी मरी नहीं है, केवल एक ही पाँव कटा है। यदि हो सके, तो मिलिटरी डाक्टर उसे अपने अस्पताल में ले जा कर उपचार कर दें। रेलवे अस्पताल में भेजने के लिए दूसरी गाड़ी का इन्तजार करना होगा और दूसरी गाड़ी के आने में अभी बारह घंटे हैं, और तब तक शायद उसके प्राण चले जायँ।"

इतना कह कर डाक्टर थोड़ी देर रुक गए। कमरे की एक आलमारी से एक छोटा-सा पत्र निकाल कर उन्होंने कहा—"संचालिका ने होश आने पर पुलिस मजिस्ट्रेट के सम्मुख दिये अपने 'डाइंग डिक्लेरेशन' (मृत्यु से पूर्व दिए गए बयान) में उस दुर्घटना का जो वर्णन किया, उसकी एक प्रतिलिपि मेरे पास है। इसे आप स्वयं पढ़ लीजिए।"

बयान इस प्रकार था :

"मेरा नाम अमृन्मयी देवी है। मेरे माता-पिता काशी में रहते थे। मैं विधवा हूँ। मेरे पति . . . बंगाल के आय-कर विभाग में एक बड़े कर्मचारी थे। उनके देहान्त के बाद मैंने ब्रह्मपुर में स्वर्गीय अनिलकुमारी नामक प्रसिद्ध ब्राह्म से दीक्षा ले कर एक महिला-आश्रम और कन्या-पाठशाला की स्थापना की थी।

"आज सुबह जब मैं अपने छोटे, बीमार भाई के लिए सिस्टर से माँग कर कुछ खाना ले जा रही थी, तो उसे रेल के पुल के पास एकत्र भीड़ ने छीन लिया। मेरे पास केवल दो बड़े टोस्ट के टुकड़े और एक कार्नफ्लेक का डिब्बा था। मैं नहीं पहचानती, कि भीड़ में से किसने उसे छीना। मुझे भीड़ में कोई आदमी पहचाना हुआ नहीं ज्ञात हुआ। एक भूखी स्त्री ने मुझे देख कर कहा—'इनके पास से कोई वस्तु न छीनो। ये उस आश्रम की बालिकाओं के लिए कुछ खाना माँग कर ले जा रही हैं।' दूसरा बोला—'कहाँ से माँग लाई है। चलो हम भी चलें।' उस स्त्री ने कहा—'छावनी से लाई होंगी। बड़ी धर्मात्मा है यह।' 'धर्मात्मा नारी!'—एक और भूखे ने ठहाका मार कर कहा—'छावनी से खाना और पैसा माँग कर लाने वाली सभी धर्मात्मा औरतों को मैं जानता हूँ। बेहया औरतें! ऐसी वेश्याओं को तुम धर्मात्मा कहती हो!' और उसने झपट कर मेरा झोला छीन लिया। और भी कई लोग मुझ पर टूट पड़े। मुझे हलकी-सी चोट आई, और शायद थोड़ी देर मैं बेहोश रही। मेरा छोटा भाई भी इस बीच आ गया। वह मेरी बेहोशी की खबर पा कर नहीं आया होगा। शायद पहले ही मेरे पीछे-पीछे वह भी चला आया होगा। और जब मैं अस्पताल से वहाँ पहुँची, तो वह भी धीरे धीरे चल कर पुल तक मेरे आने की प्रतीक्षा में पहुँचा होगा।

"मेरे पास खाने को कुछ भी न पाकर उसे क्रोध आया, और वह रोटी के लिए चिल्लाने लगा। उसकी चिल्लाहट सुन कर, ही मेरी आँखें खुलीं। मैंने उसे समझाने का प्रयत्न किया; पर वह जमीन पर लेट कर बच्चों की भांति हाथ-पाँव पटकने लगा और देर तक ऐसा करता रहा। धीरे-धीरे इसी क्रिया में उसके हाथ-पाँव का प्रकम्पन धीमा पड़ने लगा। फिर वह भी बेहोश हो गया। मुझे

यह विश्वास हो गया, कि यदि शीघ्र ही उसे खाने की कोई वस्तु न दी गई, तो वह मर जायगा। मैं भूख से ऐसी कई मृत्युएँ देख चुकी थी।

"भोजन कहीं-न-कहीं से प्राप्त करना उस समय उसके प्राण बचाने के लिए बहुत ही आवश्यक था। पर कहाँ से भोजन लाया जाय, यह मेरी बुद्धि से परे की बात थी। मुझे भोजन भी ऐसा चाहिए था, जो ठोस न हो और जिसे इतने दिनों के भूखे बालक की आँतें पचा सकें। कोई पेय या पौष्टिक तरल पदार्थ मैं प्राप्त कर सकूं, यही प्रार्थना भगवान से बार-बार करने लगी।

"मेरे पाँव उस समय अनायास ही छावनी की ओर मुड़ गये। एक सिपाही के कन्धे पर बन्दूक थी, और वह एक तीतर मार कर ले जा रहा था। यद्यपि मैं जन्म से ही शाकाहारी हूँ, पर मुझे उस समय यदि वह सिपाही अपना तीतर ही दे देता, तो मुझे अपनी उस विवशता में उसी अभोज्य पदार्थ का कोई पेय बना कर उस मरणासन्न बालक के प्राण बचाने में संकोच न होता। 'क्या ऐसा करना उचित है?'—यह सोचते-सोचते मैं छावनी तक चली गई; पर न तो मुझे उस सिपाही से कुछ कहने का साहस हुआ और न मैं सिस्टर के पास ही जा सकी। छावनी से मैं फिर रेल की ओर लौट आई। रास्ते में वह छावनी का क़साईखाना पड़ता था, जिसमें न जाने कितने जानवर प्रतिदिन कटते हैं। मैं सोचने लगी, यदि माँस का कोई टुकड़ा ही पड़ा मिल जाता, तो उससे भी शायद मेरे भाई के प्राण बचाने में सहायता मिलती। पर अपने इन विचारों पर शीघ्र ही मुझे बड़ी ग्लानि हुई।

"मिलिटरी स्पेशल के आने पर मैं अपने भाई को छोड़, भीड़ के साथ-साथ कुछ खाना माँगने के लिए स्टेशन की ओर गई। प्लेटफार्म के अन्दर उस दिन भीड़ को नहीं घुसने दिया गया। चार-पाँच बन्दूकधारी सिपाही फाटक पर जब तक गाड़ी खड़ी रही, पहरा देते रहे। उस गाड़ी में एक सैनिक था। उसके दोनों पाँव कटे थे। वह बैसाखियों पर चलता था और सब से हँस-हँस बातें करता था। वह बैसाखियों पर ही अपने डिब्बे से उतरा, पानी के नल तक गया, रोटी और दाल लेने रसोईवाले डिब्बे तक गया, और फिर अपना भोजन कर

बुकने पर अपने स्थान पर बैठ, प्रसन्नता से अपने साथियों से बातें करने लगा। पाँवों के बिना भी मनुष्य इतना प्रसन्न रह सकता है, यह बात मुझे बड़ी अद्भुत और नयी लगी। एक नया विचार मेरे मन में बार-बार आने लगा।

"मैं दाल के बिखरे हुए दानों को ढूंढ़ने के लिए फिर प्लेटफार्म पर नहीं गई और अपने बेहोश भाई के पास पुल के नीचे जा कर बैठ गई। मैंने सोचा, कि यदि अपनी भूख मिटाने के लिए संसार के तीन-चौथाई से अधिक मनुष्य माँस पर निर्भर रहते हैं, माँस खाना बुरा अवश्य है, पर भूख की शान्ति के लिए अपनी मर्यादा और सम्मान खो देने से तो यही अच्छा कि अपने शरीर का एक अंग ही खो दिया जाय। उस बिना-पाँव के सिपाही की हँसी और प्रसन्नता मुझे रह-रह कर याद आती। मैंने फिर निश्चय कर लिया।

"जब-जब उसे होश लौट आता, अपने भाई से मैं कह देती, 'आज मैं अवश्य तेरे लिए शाम तक उस जड़ को खोद लाऊँगी, जो बड़ी गहराई में मिली है। बहुत खोदना पड़ रहा है। आज सारा दिन लगा दिया और अब भी पूरी नहीं निकाल पाई। उस जड़ में खूब रस है और खाने में मीठी भी है।' वह कभी-कभी 'दीदी ले आई' कह कर अचानक मुंह खोल देता और फिर बड़बड़ाता। मैं यही सोचती रही, कि कब अँधेरा हो, गाड़ी जाय, और मैं अपना काम कर डालूं।

"गाड़ी के जाते समय चुपके से पटरी के समीप जा कर मैंने अपनी टाँग पटरी पर रख दी, और रेल के आगे बढ़ते ही मैंने उस कटे हुए पाँव को अपने-आप उठा लिया। पटरी पर रखने से पहले मैंने उसे घुटने से नीचे पूरी लंबाई तक पेड़ की छाल और जड़ों से अच्छी तरह लपेट लिया था। मैं घसिटते-घसिटते अपने भाई के पास आ गई। मैंने बार-बार भगवान् का नाम लिया, कि वह मुझे उस असह्य पीड़ा को सहने की शक्ति दे और बेहोश न होने का मेरा प्रयत्न निष्फल न हो। एक झाड़ी के पास मैंने अपने भाई को लिटा रक्खा था। मैंने उसके मुंह में उस रक्त टपकते हुए सिरे को दे दिया। उसने ओंठ खोल दिए और वह उस रक्त को चाटता रहा।

"मेरी पीड़ा तब तक असह्य हो गई। आँखों के आगे अँधेरा छा गया, पर फिर भी मैं अपने भाई से, जहाँ तक सम्भव था, दूर हटने का प्रयत्न करती रही। पता नहीं, उस अर्द्ध-चेतनावस्था में मैं कहाँ तक घसिटती चली गई। मुझे और कुछ नहीं कहना है। उस झाड़ी में, जिसे आप भी आसानी से ढूंढ़ लेंगे, मेरा भाई अब भी जीवित पाया गया, तो आप सब से मेरी प्रार्थना है, कि आप उसे यह न बतलायें, कि उसने अपनी दीदी का मांस खाया है। वह बेचारा शायद अब भी उसे, पेड़ की जड़ ही समझ कर चूस रहा होगा। उसमें इतना बल न था, कि वह आँखें खोल कर देख भी ले, वह जड़ कैसी है!

"मैंने उसको अचेतनावस्था में उसे नर-माँस खिला कर पाप अवश्य किया है। संसार के कई देशों के मनुष्य, अपने जीवन-यापन के लिये दूसरे जीवों की हत्या करते हैं। और, आपमें से कई डाक्टर तो यह भी कहेंगे, कि भेड़, बकरी, गाय, भैंस और शायद नर-माँस की बनावट एक-सी ही है। इन सब जीवों का लाल-लाल रक्त ही इस बात का साक्षी है। पर यह सब दलीलें अपने ही मन से बार-बार करने पर भी मेरी ग्लानि दूर नहीं होती, और मैं इसीसे भस्म हो कर जली-सी जा रही हूँ। पर अपने किए पाप से मुझे शायद कुछ मुक्ति मिल जाती, यदि अपने मरने से पूर्व मुझे यह ज्ञात हो जाता, कि मेरा भाई बच जायगा। भूख! प्रकृति की यह बलवती शक्ति! इसके सामने सदाचार और नीति की दीवार देर तक नहीं टिक सकती। पर क्या, मेरी वे बहिनें अधिक दोषी हैं, जिन्होंने इससे लड़ने के लिए अपनी अस्मत खो दी, या मैं, जिसने अपना माँस ही अपने भाई को खिला दिया?"

उस बयान को पढ़ कर मैं निश्चय न कर सका, कि उस सारी घटना का कौन-सा अंश कपोल-कल्पित है। डाक्टर स्वयं ऐसे गम्भीर लग रहे थे, कि उनसे कुछ और पूछने का साहस न होता था।

मानो मेरी शंका को ही समझ उन कागजों को मेरे पास से ले कर फिर आलमारी में रखते हुए स्वयं डाक्टर ने कहा—"इतनी-सी है वह कहानी! सच यह है, कि रेल से पाँव कटने पर वह एक इंच भी आगे न चल सकी,

और अपनी अर्द्धचेतनावस्था में न जाने क्या-क्या स्वप्न देखती रही। पर उसे यह बतलाना, कि वह अपने भाई के पास अपना कटा पाँव नहीं ले जा सकी, और उसने स्वयं अपने भाई को अपना माँस नहीं खिलाया, उस मरणासन्न प्राणी को मृत्यु से पूर्व की उसकी सारी उपार्जित शान्ति से वंचित कर देना था। जो भी हो, उस बहादुर मृत महिला की स्मृति, अपने भोजन में मांस को देखते ही कभी-कभी एक अनोखी सिहरन मेरे शरीर में पैदा कर देती है, और मैं सोचने लगता हूँ, मांस से परहेज करना ही मानव-सभ्यता की शायद अगली श्रेणी है। और इसीका प्रभाव मेरे जीवन पर काफी गहरा पड़ा है।"

विट्ठल राधानन्दनन् बोले—"और सुनिए, इसके उपरान्त मैं न्यूयार्क से लौट कर, जब अगले महीने अलास्का की उस वैज्ञानिक सभा में भारतीय राज-दूत के साथ गया, तो बात-बात में न्यूयार्क के निकट रहने वाले उन शाकाहारी डाक्टर का जिक्र आ गया। मैम्फर्ड साहब ने कहा, उनके पास एक बड़ी अद्भुत वस्तु है। मालूम होता है, वह डाक्टर तिब्बत के तांत्रिक लामाओं के पास रहा है और भूत-प्रेत की लीलाओं का उसे अच्छा ज्ञान है। मैंने सुना है, जिसके पास एक पूर्वीय का सुन्दर पाँव रखा हुआ है। वह उसे अपनी अमूल्य निधि समझता है और जड़ी-बूटियों से उसे सदा लपेटे रखता है।"

एक और महोदय बोले—"मैं समझता हूँ, वह किसी प्राचीन मिस्री 'ममी' का पाँव है, जो उन्हें प्राप्त हुआ। मैंने अपने संग्रहालय के लिये उनसे उसे माँगा था, और कई हजार डालर देने का वचन दे चुका हूँ; पर वह डाक्टर उसे अपने पास से अलग नहीं करना चाहता।"

"उस डाक्टर के लड़के से आपका परिचय नहीं है क्या ?"

विलियम ने कहा—"उस खब्ती डाक्टर ने शिशिरकुमार नामक उस लड़के को गोद लिया है—वही मास्टर शिशिरकुमार, जो न्यूयार्क में कभी-कभी हिन्दुस्तानी संगीत में भाग लेता है। डाक्टर ने अपनी सारी सम्पत्ति का उसे उत्तरा-धिकारी बना दिया है। मैंने सुना है, वह लड़का मरणासन्न दशा मे उन्हें कल-कत्ते की किसी गली में पड़ा मिला था।"

"अच्छा, तब तो वह डाक्टर पूरा सिड़ी है!" खिलखिला कर हँसते हुए मैम्फर्ड साहब ने उत्तर दिया।

न्यायाधीश का निर्णय

वार्डर ने बतलाया, आज उसकी पेशी होगी।

अपनी कालकोठरी से जब वह बाहर निकला, तो जेल की उन सब यातनाओं को यह सोच कर भूल-सा गया, कि आज उसे अपने सहपाठियों को देखने का अवसर मिलेगा। वे सब उस पर पड़ने वाली मार का स्पष्ट प्रभाव देख सकेंगे। इन बारह दिनों में उसे कभी नहाने का भी अवसर नहीं दिया गया। जो कपड़े उस दिन होस्टल में उसने पहने थे, वही अब भी उसके शरीर पर थे। कमीज की एक बाँह फट गई थी। दरोगा का डण्डा उसमें उलझा था। दूसरी बाँह में कई स्थान पर खून के दाग थे। टूटी हुई अँगुली अब भी दुखती थी। नाखून से कभी-कभी अब भी रक्त बह निकलता था। पर इन सब यातनाओं को बरदाश्त कर, वह एक वीर की भावना लिए, अपनी पेशी की प्रतीक्षा करता रहा। आज उसे अपने सहपाठियों से बात करने का अवसर मिल जायगा। शायद उन्होंने उसके स्वागत के लिए जेल के फाटक तक कुछ टोलियाँ भेजी होंगी। उस दिन भी वे लोग खूब समारोह के साथ उसे जेल तक पहुँचा गये थे। शायद उन्होंने कोई अच्छा वकील उसके मुकदमे की पैरवी करने के लिए नियुक्त किया होगा। शायद वे उसे जमानत पर छुड़ा लेंगे। निर्मला यदि न पकड़ी गई होगी, तो उसने पूरा प्रबन्ध कर रखा होगा।

और निर्मला का स्मरण होते ही, उसे उस दिन प्रातःकाल की वह घटना याद हो गई, जब वह पकड़ा गया था। सुबह निर्मला ने आकर बतलाया था, कि पुलिस का दरोगा वार्डन को बुलाने गया है, आज फिर वह किसी विद्यार्थी के कमरे की तलाशी कराने आया होगा। सुरेश और संजीवन के पकड़े जाने के बाद अब उसीकी बारी थी, वही तो विद्यार्थी-सभा का सर्वे-सर्वा बना

लिया गया था। निर्मला का अनुमान ठीक था। थोड़ी ही देर में सी० आई० डी० का वह दरोगा अपने दो सिपाहियों और दो गवाहों के साथ कमरे में आ धमका था। वह सोचने लगा, 'केवल बारह दिन पहले की यह घटना है, और ऐसी पुरानी लगती है, कि मानो बारह वर्ष पहले की हो। हाँ, इन बारह दिनों में मुझपर जो मार पड़ी है, वह सब अपनी आयु के इन पूरे अठारह वर्षों में, मिला कर भी न पड़ी होगी।'

'क्यों यह मार मुझ पर पड़ी? उस कागज को अपने पास रखने के लिए, जिसे उस दिन दरोगा ने मेरे कमरे की उस मेज पर पाया था? नहीं, यदि यह मार उस अपराध के लिए थी, तो अब न्यायाधीश के सम्मुख प्रस्तुत होने का यह ढोंग क्यों रचा जा रहा है? उस दिन दो सिपाही मुझे जेल की कोठरी से बाहर निकलवा लाए थे। मैं खतरनाक कैदी हूँ, इसलिए अभी से मुझे कोठरी में डाला जाता है, और अन्य हवालाती कैदियों के साथ नहीं रखा जाता। सिपाहियों ने ला कर मुझे दरोगा के सम्मुख खड़ा किया था। मेरे हाथ बाँध दिए गये थे। रेल की पटरी उखाड़ने, बम फेंकने और तार काटने की जितनी घटनाएँ उस सप्ताह हुई थीं, उस सब का कारण वह दरोगा मुझसे ही पूछना चाहता था। बार-बार वह वही एक प्रश्न दुहराता, कि यह किन-किन विद्यार्थियों की करतूतें हैं। मैं भला, उत्तर ही क्या देता? उतने-से विद्यार्थी न जाने मेरे परोक्ष में क्या-क्या करते हैं। वह सब मैं जान भी कैसे सकता हूँ। मुझे दरोगा पर क्रोध आता, पर उसकी विवशता देख कर धीरे-धीरे वह क्रोध का भाव भी मेरे मन में नहीं रहता, और मैं सोचता, यह बेचारा भी विवश है। इसे उन घटनाओं की पूरी छान-बीन करने का हुक्म मिला होगा, इसी से मुझसे पूछता है। मैं चुप रहता और उसकी तथा उसके अफसरों की बुद्धि पर मुझे तरस आता, जो मुझसे उन अज्ञात घटनाओं का पता लगाने की आशा रखते थे। पर मेरी चुप्पी देख कर, दरोगा ने जो वह जोर का थप्पड़ लगाया, उससे मेरे कान का पर्दा ही फट गया। मैंने थप्पड़ खाने-योग्य अपराध ही क्या किया था? मैं कुछ कहने ही जा रहा था, कि मेरे ऊपर लात और घूंसों की बौछार होने लगी। यह

सब क्यों ? क्या दरोगा अपनी बेबसी से, अपनी सारी झुंझलाहट मेरे ही ऊपर उतारना चाहता था ?

'मेरी वे चोटें अभी ठीक भी न हुई थीं, कि फिर शनिवार को मुझे एक नये दरोगा के सम्मुख लाया गया, और हिन्दी में छपे विज्ञापनों की एक पूरी गड्डी मेरे सम्मुख रख कर उसने मुझसे उस प्रेस का नाम पूछा, जिसमें वे छपे थे। मैं भला इसका क्या उत्तर देता ! पर मुझे क्रोध नहीं आया। यह नया दरोगा शायद यही समझ कर मेरे पास आया होगा, कि मैं भी एक ऐसे ही छपे हुए पर्चे को रखने के अपराध में जेल भेजा गया हूँ, और छपे हुए पर्चों से सम्बन्धित सारी बातें मुझे ज्ञात होंगी। पर इस दरोगा को तो पहले उसी सी० आई० डी० के दरोगा के पास जाना चाहिए था, जिसने मेरे कमरे से वह पर्चा प्राप्त किया था। वह पर्चा तो न मैंने पहले कभी अपने कमरे में देखा था, और न कभी मुझे ऐसे पर्चों से कोई प्रयोजन ही रहा था। इस नये दरोगा ने मुझे बहुत समझाया, फुसलाया, अच्छे व्यवहार का आश्वासन दिया; पर मुझे कोई ज्ञान भी हो, तब तो मैं बतलाऊँ। मैं उसकी ओर देखता रहा। उसकी बुद्धि पर मन-ही-मन हँसता रहा। उसकी बातें मेरे कानों तक शायद पहुँच भी नहीं पा रही थीं, क्योंकि मैं उस समय अपनी उस दिन प्रातःकाल की घटना को मन-ही-मन दुहरा रहा था। तलाशी लेते समय मैंने दरोगा को खूब परेशान किया था। मैं अपनी चारपाई पर पलथी मार कर बैठा रहा, और जब तक कमरे की तलाशी हो रही थी, एक क्षण के लिए भी अपने स्थान से नहीं डिगा। दरोगा को पूरा विश्वास हो गया था; कि जब्त-शुदा साहित्य के एक बड़े बंडल का आसन बना कर ही इस प्रकार अकड़ कर मैं बैठा हूँ। जब उसने मुझसे अपने स्थान से उठने के लिये कहा था, तो मैंने साफ इनकार कर दिया था। वार्डन के कहने पर भी मैं अपने स्थान से नहीं उठा। दरोगा का यह विश्वास तब और भी दृढ़ हो गया था, कि सारी जब्त-शुदा पुस्तकें मेरी ही पलथी के नीचे हैं। दो सिपाहियों ने मुझे पकड़ चारपाई से उतार दिया, और जब चारपाई टटोली गयी, तो वहाँ कुछ भी न था। आलमारियाँ, ट्रंक और पुस्तकें तो एक-एक कर के सभी

पहले ही छान डाली गई थीं। दरोगा तब खिसिया-सा गया था। पर न जाने उस सिपाही ने क्या सोच कर कहा, कि उस मेज को भी देख लिया जाय। मेज पर छपी चादर और कागज के फूलों का वह गुलदस्ता था। उसे सभी देख रहे थे। बाँस की उस हलकी मेज पर और कोई वस्तु रक्खी भी नहीं जा सकती थी। सिपाही ने न मालूम क्या जादू-सा किया, कि चादर के नीचे से वह परचा निकाल लिया। और उस परचे के कारण ही मुझे अब तक इतने दुःख उठाने पड़े। इस प्रकार मैं जब इस सारी घटना को मन-ही-मन, खड़ा-खड़ा याद कर रहा था, तो उस नये दरोगा ने एकाएक मेरे माता-पिता के लिए वे अप-शब्द कहे थे, मैंने पहली बार अपना मुंह खोला, और कहा था, कि मेरे माता-पिता को गाली देने से पहले उसे अपने माँ-बाप को भी याद कर लेना चाहिए। इस पर, इस सरल-सी बात पर, वह नया दरोगा आपे से बाहर हो गया था। उसने थप्पड़ और लातों से मार-मार कर मुझे जमीन पर गिरा दिया। मेरे तो हाथ बँधे हुए थे। ताँगे में बँधे हुए घोड़े पर कभी-कभी जो मार, धूप में तेज न चल सकने के कारण या मालिक की झुंझलाहट या असन्तोष के कारण पड़ जाती है, वैसी ही मार मुझ पर भी पड़ी थी। मेरे यह कहने पर, कि जरा मेरे भी हाथ खोल दो तब हम देख लें, उस दरोगा ने हंटरों से मुझे अधमरा कर दिया। अच्छा ही हुआ, कि मेरी चेतना तब सहसा लुप्त हो मुझे उस असह्य संताप की वेदना से कुछ घंटों तक के लिए बचा ले गई। नहीं तो केवल मेरे या परमात्मा के सिवा और कौन उस मार के विषय में जानता है? किसी को मेरे ऊपर पड़ने वाली उस मार से प्रयोजन ही क्या? आज यदि अवसर मिला, तो मैं निर्मला से, वसन्त से और सदन से यह सब कहूँगा। हमें अपने और सब साथियों को जेल की इन यातनाओं के प्रति पहले ही से सजग कर देना चाहिए, या कुछ और उपाय सोच कर इन हत्यारों से बचने का प्रयत्न कर लेना चाहिए।'

\+ \+ \+

शीघ्र ही उसे बतलाया गया, कि मुकदमा जेल के ही अन्दर होगा। इस

बात को सुन उसका दिल बैठ गया। उसके पाँवों में अब बल ही न रहा। उसे इतनी निर्बलता मालूम होने लगी, कि दो-चार ही पग चलने पर मानो वह गिर पड़ेगा, और अपने प्रति होने वाली न्याय की सारी कार्यवाही में अब उसे कुछ भी दिलचस्पी न दिखलाई दी। उसकी इच्छा अपनी कोठरी से निकलने तक को न हुई।

पर उसे आना पड़ा। पुलिस के दो सिपाही उसे उस तम्बू के पास ले आए, जिसमें स्पेशल मजिस्ट्रेट मिस्टर विश्वास की अदालत थी। मिस्टर विश्वास उसका मुकदमा सुनेंगे, यह जा कर, हरिविनोद का रहा-सहा उत्साह भी जाता रहा। यह वही मजिस्ट्रेट थे, जिन्होंने उसके और कई साथियों को बड़ी सजायें दी थीं। सरकार के ये बड़े भक्त थे, और राजनीतिक अपराधी का नाम सुनते ही चिढ़ जाते। सिपाहियों ने तम्बू के पास एक पेड़ के नीचे उसे बैठा दिया, और वे स्वयं भी उसके पास बैठ गए। हरिविनोद ने फिर सभी आगन्तुकों की ओर देखा। न निर्मला थी, न विद्यार्थी-सभा के कार्यकर्त्ता। कोई भी नहीं आया था। वह सिर नीचा किये बैठ गया। सोचने लगा, 'शायद उन्हें सूचना ही न मिली हो। शायद मुझ-जैसे खतरनाक अपराधियों के मुकदमे की सूचना विद्यार्थियों तक अधिकारियों ने पहुँचने भी न दी हो। शायद वे सब लोग भी पकड़ लिए गये हों।'

एक सिपाही ने बीड़ी सुलगाई, और एक बीड़ी उसकी ओर बढ़ाते हुए कहा—"लीजिए बाबू जी, आप बीड़ी पियेंगे?"

जेल की उन दीवारों के अन्दर आने के उपरान्त, उसने अब तक अपने को इस प्रकार आदर से सम्बोधित होते पहली बार सुना। अन्यथा अब तक तो वह इन दो सप्ताहों में तू, तेरे, या गधे और उल्लू नाम से पुकारा जाता था। उसे बीड़ी से बड़ी चिढ़ थी। वह बहुधा रेल के तीसरे दर्जे में इसीलिए नहीं बैठता था, कि वहाँ प्रत्येक तीसरा व्यक्ति बीड़ी जला कर यही कहता, कि 'लीजिए बाबूजी, बीड़ी पीजिए।'

पर इस समय सिपाही के उन थोड़े आदर-सूचक शब्दों से वह ऐसा विचलित हुआ, कि उस मैत्री-पूर्ण वार्तालाप का सिलसिला जारी रखने की इच्छा से वह एक बार तो यह सोचने लगा, 'चलो, जरा बीड़ी ही पी लें,' पर फिर सरकारी कर्मचारियों के प्रति वह घृणा का भाव उसने जागृत करके मन-ही-मन कहा, कि 'मेरी इस सारी दुर्दशा का कारण तो यह सिपाही और इनकी बिरादरी के और सब लोग हैं। मुझसे तुम्हें क्या लेना? तुम्हारा और हमारा मार्ग अलग-अलग है।' और प्रकट में वह सिपाही से बोला—"धन्यवाद, मैं बीड़ी नहीं पीता।"

फिर अपने विचारों का क्रम जोड़ते हुए सोचने लगा, 'क्या सचमुच मेरा भी कोई मार्ग है? कोई उद्देश्य है? इतनी यातनाएँ सह लीं, और न जाने कितनी और सहनी हैं। मैं यह सब क्यों भुगत रहा हूँ? मुझपर जो बीत रही है, उसे देखने वाला ही कौन है? संसार में किसीको भी तो मेरी गति-विधि से प्रयोजन नहीं। कोई भी तो यह नहीं कहता, कि धैर्य रक्खो। कोई भी तो यह नहीं जानता, कि हरि-विनोद, तेरी यह यातना, उस बड़े स्वातं-संग्राम का एक अंग है, जो आज भारत के कोने-कोने में, उसे स्वतंत्र करने को किया जा रहा है। भारत के सभी स्वतं-त्रता-प्रेमियों को यही सब झेलना पड़ रहा है। नहीं, मेरे ऊपर पड़ने वाली मार से भारत की आजादी की लड़ाई का कुछ भी सम्बन्ध भला कैसे हो सकता है? मैं व्यर्थ इतना भयंकर कष्ट झेल रहा हूँ। जादू की-सी अनोखी घटना से उस कागज का मेरे कमरे से निकल जाना, जो कभी मेरे पास था भी नहीं, एक बहाना मात्र है। यह सब इन्हीं सरकारी कर्मचारियों का जाल है।'

एक वृद्ध को जल के वार्डर के साथ समीप आते देख कर, सिपाही ने हरि-विनोद को उसकी तन्द्रा से जगा कर कहा—"लीजिए, बाबू जी, कोई आपके घर से आये हैं।"

वृद्ध ने हरिविनोद की ओर देखा। थोड़ी देर तक उन्हें अपनी आँखों पर विश्वास भी नहीं हुआ, कि अपने भानजे को देख रहा है। बिखरे बाल, दो

सप्ताह से बढ़ी हुई दाढ़ी, फटे कपड़े और वह विकृत-मुद्रा ! इन बारह दिनों में इस युवा की सारी आकृति ही बदल गई थी ।

हरिविनोद ने खड़े होकर अभिवादन के हेतु हाथ जोड़े, तो वृद्ध की आँखों में आँसू भर आये ।

वृद्ध की इस दुर्बलता पर हरिविनोद प्रसन्न नहीं हुआ । वैसे भी, जहाँ वह अपने और साथियों और मित्रों को मिलने की आशा लगाये था, उसने पल भर के लिए कभी अपने इस संभ्रान्त मामा जी के आने की आशा नहीं की थी । इस नगर में आ कर पहले-पहल वह अपने पिता की आज्ञा के अनुसार इन्हीं के पास टिका था । पर उनके परिवार में रह कर पढ़ना, कालेज जाना उसे, अपने और सहपाठियों के होस्टल के स्वतन्त्र जीवन के सम्मुख, बड़ा निकृष्ट जान पड़ा । अन्त में वह मामा जी के उस बड़े परिवार को छोड़ कर, छात्रावास में ही प्रविष्ट हो गया था । जब कभी किसी कार्यवश उसे मामा जी के यहाँ जाना पड़ता, तो वह अकारण ही अपने को अपराधी-सा अनुमान करता । जब तक उनके पास रहता, अपने आत्माभिमानी और स्वतन्त्र मन पर खप्पच और पट्टियाँ-सी बँधी उसे ज्ञात होतीं ।

थोड़ी देर में सुस्थिर हो कर, वृद्ध ने कहा—"मैं एक वकील करता आया हूँ। तुम्हारे घर से कोई आ ही नहीं सका । रेल की भयंकर दुर्घटनाओं के कारण, आजकल यात्रा करना भी दुष्कर हो गया है। ऐसे बुरे समय में यहाँ आने से मैंने तुम्हारे पिता जी को मना कर दिया था ।"

हरिविनोद चुप रहा। वह इन वृद्ध के सम्मुख आदर-मिश्रित उदासीन भाव लिये अपनी वर्तमान दशा पर और भी खीझ उठा। वह इनके सामने अपनी दुर्दशा का नग्न चित्र नहीं खोलना चाहता था। वह मन-ही-मन यही सोच रहा था, कि ये वृद्ध अपने मन में मुझसे यही कह रहे होंगे, 'तू यदि मेरे परिवार में रहता, तो तेरी यह दुर्गति न होती।'

वृद्ध कहते गये—"तलाशी की कोई बात तुम्हारे अनुकूल हो, तो उसे वकील को बतलाना होगा।"

"आप वकील को मुकदमे की पैरवी करने से मना कर दीजिए।" हरिविनोद ने कहा—"ऐसी कोई बात भी नहीं, जो मेरे अनुकूल हो सकती है। पर्चा मेरे कमरे में निकला, उससे तो मैं इनकार नहीं कर सकता, और यह व्यर्थ होगा, कि मैं इस बात पर अड़ा रहूँ, कि मैं तो न उसे लाया था, और न मैंने उसे पहले कभी देखा था। शायद मजिस्ट्रेट यह सब पूछेगा भी नहीं।"

वृद्ध अब तक मजिस्ट्रेट का कोई जिक्र करने से डर रहे थे। वे मजिस्ट्रेट के पास गये थे, इस बात को हरिविनोद को बतलाने में उन्हें संकोच हो रहा था, पर अब मजिस्ट्रेट का प्रसंग आ जाने पर तत्काल बोले—"मैं डिप्टी साहब के पास भी गया था।"

हरिविनोद ने मन-ही-मन कुपित हो कर सोचा, 'हाय, ये वृद्ध भी कितने संकीर्ण विचार के होते हैं, इन्हें न अपने मान-अपमान का ख्याल होता है, न दूसरे की इज्जत का। किसी सरकारी कर्मचारी से इस कार्य के लिए मिलना ही, मेरी प्रतिष्ठा के विरुद्ध होता।'

उसे एकाएक ध्यान हो आया, कि अपने पिता के तुल्य आदरणीय सम्बन्धी के प्रति उसकी घृणा का यही एक कारण हो सकता है, कि ये भी अवकाश-प्राप्त सरकारी कर्मचारी हैं।

वृद्ध कहते गए—"मिस्टर विश्वास (मजिस्ट्रेट) ने यही कहा, कि जिला मजिस्ट्रेट ने ही स्वयं तुम्हारी गिरफ्तारी का वारंट निकाला था। कप्तान पुलिस का तो विश्वास था, कि अगर तुम न पकड़े गए, तो सारा विद्यार्थी-समाज महीनों तक पुलिस को चैन न लेने देगा। सभी कर्मचारी तुम्हारे कार्यों से बेहद चिढ़े हुए थे। ऐसी दशा में मुझे तुम्हारे लिए कुछ आशा नहीं जान पड़ती थी। पर फिर भी जब मैंने मिस्टर विश्वास को यकीन दिलाया, कि वह पर्चा तुम्हारे पास था ही नहीं, तो उन्होंने किसी अच्छे वकील की पैरवी करने के लिए नियुक्त करने का परामर्श दिया। अब उनके कहे अनुसार ही चलना उचित है।"

"उचित कुछ भी नहीं," हरिविनोद ने उत्तेजित हो कर कहा—"यही

मेरे प्रति आपने बड़ा अन्याय किया, कि आपने मेरे विषय में उनसे बात की। मैं अपने मुकदमे में किसी सरकारी कर्मचारी का सहयोग नहीं चाहता।"

वृद्ध चुप हो गये। अनेक बार पहले भी जो विचार इस लड़के के विषय में उनके मन में आये, वे आज फिर उदय हो गये। वे सोचने लगे, 'यह लड़का मेरा किंचित भी मान नहीं करता। कितना बुरा समय आ गया है, बच्चे अपने बड़ों के प्रति ऐसे शब्दों का उपयोग करते हैं! मेरा सरकारी कर्मचारी होना ही इसे मेरे प्रति रोष से भर देता है। और जो बात सच है, वह यह कभी न सोचे-समझेगा। यदि मैं सरकारी मुलाजिम न होता, तो इसका पिता, रामेश्वर, बी० ए० एल-एल० बी० तक कैसे पढ़ता, कैसे वकील बन पाता, और कैसे इसे पालता और पढ़ाता। ये सब मेरी ही नौकरी के कारण पले और बड़े हुए, और अब मेरे ही ऊपर गुर्राते हैं!'

\+ + +

मजिस्ट्रेट विश्वास को उन दिनों अपराधियों को दो वर्ष तक की सजा देने का अधिकार मिल गया था। कोड़े और जुर्माने की सजा भी वे दे सकते थे। मुलजिम, विद्यार्थी हरिविनोद, का नाम सुनते ही वे आग-बबूला हो गये। यह वही विद्यार्थी है, जिसके विषय में कलक्टर ने उन्हें विशेष आदेश दिये थे; पुलिस के कप्तान ने जिसे पकड़ने का विशेष आयोजन किया था; जिसके दस दिन और बाहर रहने से पुलिस-विभाग के उस जिले के अफसरों को फिर महीनों तक चैन न मिलता। विश्वास सोचने लगे, ऐसे खतरनाक व्यक्ति को कड़ी सजा देनी चाहिए।

कई और मुकदमों के पेश हो जाने के कारण हरिविनोद प्रतीक्षा में ही बैठा-बैठा थक गया। उस दिन मजिस्ट्रेट के पास बहुत से मुकदमे थे। उन्हें अपराधियों की ओर आँख उठाने तक का अवकाश न था। अन्त में हरिविनोद का नम्बर आया। उसके मामा और उनका वह वकील भी तम्बू के अन्दर आ गये। पहले दरोगा ने अपना बयान दिया, कि किस प्रकार उसने 'बाजाब्ता

तलाशी' ली, छापा मारा, और किस प्रकार 'मुलजिम के किवाड़दार, महफ़ज कमरे से' वह 'जब्त-शुदा कागज़ बरामद' हुआ।

दरोगा के बयान के बाद वकील ने कुछ प्रश्न करने चाहे। पर अपने ही वकील को रोक कर हरिविनोद बोला—"मैं इस गवाह से जिरह नहीं करना चाहता।"

मजिस्ट्रेट अपना काम हल्का करना चाहते थे, और वकील को खड़ा देख यही सोच रहे थे, कि इस मुकदमे में भी घंटों लग जायेंगे। पर हरिविनोद की उस बात से उन्हें आशा की एक झलक दीख पड़ी। वे प्रसन्न हो कर अँग्रेजी में बोले—"मुझे तो तुम एक सत्यवादी विद्यार्थी जान पड़ते हो। क्या तुम अपने अपराध को स्वीकार करते हो ?"

"सत्यवादी और अपराध !" हरिविनोद ने किंचित व्यंगभरे शब्दों में कहा—"जो मेरे दृष्टिकोण में सत्य है, वह आप या आपके कर्मचारियों की दृष्टि में झूठ हो सकता है। यदि आपका तात्पर्य यही है, कि क्या मेरे कमरे से यह कागज प्राप्त हुआ, तो मैं यही कहूँगा, 'हाँ मैंने इसे अपने कमरे में से प्राप्त होते हुए देखा था'।"

दरोगा ने सुख और सन्तोष की एक साँस ली। मजिस्ट्रेट ने पूछा—"तब तुम जुर्म का इकबाल करते हो ?"

"जुर्म ?" हरिविनोद बोला—"इस पर्चे को रखने के जुर्म को मैं नहीं स्वीकार करता। कागज की फैक्टरी में जब यह कागज बना, तब इसका रखना जुर्म नहीं था। जब यह छपा और पढ़े-लिखे लोगों में बँटा, तब भी इसका रखना जुर्म नहीं था। एक दिन किसी सरकारी कर्मचारी ने इसे पढ़ा होगा, किसी बड़े अफसर को इस विज्ञप्ति के लिये लिखा गया होगा, कि इसे आपत्तिजनक साहित्य क़रार दिया जाय, तो उस कर्मचारी और उस अफसर ने भी इसे रखने में अवश्य अपराध किया। यदि इस पर्चे को आपत्तिजनक करार दिये जाने से पूर्व, जिन-जिन व्यक्तियों के पास यह रहा, आपकी दृष्टि में वे सब अपराधी हों, तो मैं भी अपराधी हूँ। यद्यपि तलाशी होने के दिन से पहले न मैंने कभी इसे देखा, और न

पढ़ा, किसी और उपयोग में लाना तो दूर रहा। इसी कागज को रखने का जुर्म लगा कर यदि मुझे दंडित किया जा रहा है, तो महाशय, मैं स्वयं आपको भी इसी जुर्म का अपराधी समझता हूँ। आपकी मेज पर भी वही कागज है, और उसी दशा में, जिस दशा में यह मेरी मेज पर पाया गया था।"

"क्या तुम जानते हो," मजिस्ट्रेट ने कहा—"कि तुम ऐसा कहने के लिए स्वतंत्र नहीं हो? न्यायाधीश को अपराधी कह कर, तुम अदालत की मान-हानि के लिए भी दंडित किये जा सकते हो।"

हरिविनोद बोला—"मैं और न जाने कितने ही दंड, अस्पष्ट और अलिखित अपराधों के लिए पा रहा हूँ, जिनका कहीं किसीने मुझपर आरोप भी न किया होगा। एक यह और भी सही।"

"कौन से और दंड, भला तुम्हें मिल रहे हैं?" मजिस्ट्रेट ने हँस कर कहा—"जरा मैं भी सुनूं। तुम विद्यार्थियों के सभी दंड शायद काल्पनिक होते होंगे एलजब्रा या अरिथमेटिक के प्रश्नों की भाँति।"

"यह टूटी हुई अँगुली; यह दुखती बाँह, कटी हुई भौंह और पीठ में ये चोट के निशान, यह तो गणित के कोई काल्पनिक साध्य नहीं हैं।" हरिविनोद ने किंचित उत्तेजना से कहा, पर क्षण भर में ही वह सोचने लगा, कि शायद अपने पक्ष में मामा के सम्मुख इतनी सारी बातें कहना उपयुक्त न था।

मिस्टर विश्वास ने पहली बार उसे सिर से पाँव तक देखा। वे कुछ देर चुप रहे, यही सोच कर, कि 'इस विद्यार्थी को अवश्य ही जेल में मार पड़ी होगी। यह बहुत बुरा है। पर मैं भला क्या कर सकता हूँ। इस सब से मुझे क्या प्रयोजन? मुझे तो इसी मुकदमे में अपना निर्णय देना है। यह मैं क्या कम उपकार इस लड़के पर कर रहा हूँ, कि अदालत की मान-हानि का कोई मुकदमा इस पर नहीं चला रहा हूँ?'

मजिस्ट्रेट को चुप देख कर दरोगा ने कहा—"अपराधी को अपना अपराध स्वीकार है, और गवाह पेश नहीं किये जायँगे।" फर्द-जुर्म पर अपने हस्ताक्षर

करते हुए मिस्टर विश्वास ने हुक्म दिया, मुलजिम को निर्णय के लिए कल पेश किया जाय।

\+ \+ \+

अपने उस जुर्म के विषय में हरिविनोद जो कुछ अदालत में कह गया था, वह एकाएक विना सोचे-समझे ही कह गया था। कक्षा में किसी निवन्ध का विषय दिये जाने पर, जिस प्रकार कभी-कभी वह अनायास ही अपनी सहज बुद्धि के कारण बड़ी अच्छी वाक्य-रचना कर देता, उसी प्रकार आज भी उस जब्त-शुदा पर्चे के विषय में वह वक्तृता-सी दे कर फिर वह अपनी काल-कोठरी में बन्द हो गया, और पहली वार अपनी निपट असहाय दशा पर बालकों की भाँति रोया। दिन भर कमर कस कर उत्साह की जो चाभी-सी उसने अपने ही मन की कमानियों में भर रखी थी, उसीकी यह प्रतिक्रिया थी। वे कमानियाँ अव कोई आधार न पा कर, अपनी वास्तविक ढीली दशा के कारण रुक गईं, और हरिविनोद सोचने लगा, उसका इस प्रकार जेल का यह कष्टमय-जीवन कहीं भी कोई फल लाता नहीं दीखता। वह विना किसी नियंत्रण या नेतृत्व के आत्म-निर्भरता का अनुभव कर के जेल में प्रविष्ट हुआ था, और यही सोच रहा था, कि उस भीषण स्वातंत्र-संग्राम का वह एक अंग वन कर एक महत्वपूर्ण काम कर रहा है। पर अव उसे ज्ञात हुआ, वह सव स्वप्न था। जेल के कर्मचारियों की नृशंसता का शिकार वन वह आँधी में उड़ते तृण की भाँति खो गया है।

यद्यपि अपराधी हरिविनोद अपने उन तर्कों की वात जेल के अन्दर जाते ही ही भूल गया था, पर मिस्टर विश्वास कचहरी से घर लौट कर उस शाम मन-ही-मन उस विद्यार्थी के प्रत्युत्तर की मीमांसा-सी करते रहे। अभी तीन वर्ष पहले वे भी उसीकी भाँति एक विद्यार्थी थे। तव शायद वे भी ऐसे ही तर्क करते थे, जैसे उस विद्यार्थी ने किये। वैसी ही निरर्थक और व्यर्थ की वातें करते। पर क्या उसकी वातें व्यर्थ और वेमतलव थीं? कानून की दृष्टि छोड़ कर एक वार यदि साधारण दृष्टि से भी उस विद्यार्थी के प्रत्युत्तरों को देखा जाय, तो सचमुच उस एक कागज के रखने के अपराध में उसे दंडित नहीं किया जा सकता। उस कागज

का रखना क्या कोई जुर्म है ? हो सकता है, एक खतरनाक हथियार का रखना जिस प्रकार एक अपराध है, उसी प्रकार उस आपत्तिजनक पर्चे का रखना भी अपराध हो। पर ऐसी दशा में एक कलम और एक तलवार के रखने में भी कोई अन्तर नहीं। बिना लाइसेन्स यदि कोई व्यक्ति तलवार या बन्दूक नहीं, रख सकता, तो ऐसे ही वह कलम को भी नहीं रख सकता। एक बालक के पास जो बन्दूक का कोई उपयोग नहीं कर सकता, यदि एक बन्दूक पाई जाय, तो उसे दंडित नहीं किया जा सकता। सचमुच यदि वह पर्चा किसी अनपढ़ व्यक्ति के पास पाया जाता, तो कोई जुर्म न था, पर वह तो एक पढ़े-लिखे व्यक्ति के पास पाया गया, जो उसका अर्थ पूरी तरह जानता था, जो उसका दुरुपयोग कर रहा था। पर यह सब वह किसलिए कर रहा था, अपने किसी स्वार्थ-साधन के लिए ?

मिस्टर विश्वास इन विचारों को समाप्त न कर पाये, क्योंकि तभी उनकी पत्नी ने दरवाजे के अन्दर सिर डाल उनके कमरे में झाँका। उनका ब्याह को अभी छः महीने भी पूरे नहीं हुए थे। सचमुच अपनी पत्नी का स्मरण करते ही उनकी सारी झुंझलाहट समाप्त हो जाती है। चाहे वह झुंझलाहट अपने पिता जी से कोई कटुतापूर्ण पत्र पा कर हुई हो, या अपने कलक्टर की डाँट खा कर उत्पन्न हुई हो, अथवा अचानक ही किसी उदास भावना के शिकार हो जाने के कारण हो गई हो। पर आज उनकी वह आत्म-चिंतन की क्रिया पत्नी के समीप आ जाने पर भी न टूटी। उस विद्यार्थी की बातें बड़ी गम्भीर थीं। वे मन-ही-मन अपने विद्यार्थी-जीवन की तुलना उस विद्यार्थी के जीवन से कर रहे थे। 'यद्यपि इन दो-तीन वर्षों में मेरे निष्पक्ष न्याय के कारण अधिकारियों में मेरी तारीफ है, लोगों पर भी धाक जम गई है। पर तब के विद्यार्थी कृष्णचन्द्र विश्वास में और इस मजिस्ट्रेट कृष्णचन्द्र विश्वास में बहुत बड़ा अन्तर है। तब मैं एक सत्यवादी, ईमानदार कृष्णचन्द्र था। किसी भले कार्य के लिए अपना जीवन अर्पण कर देने के लिए तत्पर रहता था, और अब एक स्वार्थी अफसर हूँ। तब सार्वजनिक कामों में कितनी दिलचस्पी लेता था, किस लगन से सच्चा जन-सेवक बनने का स्वप्न देखता था। पर अब मुझे अपने ही लाभ का ख्याल रहता है। तब ईश्वर की यह सृष्टि

यह संसार, एक समस्या-सी मुझे लगती थी, जिसे सुलझाने में बड़ा आनन्द आता था, पर अब जीवन ही नहीं, और भी सब जीवित प्राणी, समस्त संसार मुझे साधारण लगते हैं, और ऐसा ज्ञात होता है, ये सब मेरे ही सुख के लिए बनाये गये हैं। तब प्रकृति के संगीत के साथ स्वर-लहरी मिलाने में प्राचीन कवियों के-से भाव मेरे हृदय में आते थे, पर अब तो आवश्यक है मुकदमों को, शीघ्र निबटाना, कलक्टर को सलामी देना आदि।

फिर अपनी पत्नी को देख मिस्टर विश्वास सोचने लगे, 'तब नारी मेरे लिए रहस्यमयी थी, और इसी रहस्य के कारण सुन्दर और आकर्षक दीखती थी, पर अब केवल अपने परिवार और अपने मित्रों की पत्नियों के अतिरिक्त और सब नारियों का उद्देश्य केवल मनोरंजन ही मालूम पड़ता है। यह मैं ही नहीं, मेरे और सभी सहयोगी अनुभव करते हैं। तब मैं अपनी अन्तरात्मा को 'मैं' समझता था, और अब मेरा यह शरीर ही मेरे लिये 'मैं' है। सरकारी नौकरी में, जब तक उन थोड़े दिनों में मैंने अपने उस विद्यार्थी-जीवन का आदर्श रखा, और मैं अपनी अन्तरात्मा के अनुसार काम करता आया, लोग मुझे सनकी, मूर्ख, और अनभिज्ञ कहते थे; जब से मैंने स्वयं अपने इस शरीर को ही 'मैं' का रूप दिया, अपनी इच्छाओं को अपने सहयोगियों के सम्पर्क में आकर पूरी स्वच्छन्दता दी, तो सब-कुछ सरल और सुगम हो गया है।"

पत्नी समीप आ कर खड़ी हो गई, और मिस्टर विश्वास ने तब उसे अपने पास बैठा कर कहा—"आज तुमसे एक बात पूछनी है।"

उस समय अपने श्रृंगार की विफलता देख पत्नी को कम आश्चर्य न हुआ। पति प्रायः उसकी उस वेश-भूषा को देख विनोदपूर्ण चतुर उक्तियाँ और कवियों की एक-दो चुभती हुई कविताओं को सुनाये बिना न रहते थे, पर आज वह उनके समीप बैठ गई, फिर भी वे अपने ही विचारों में उलझे रहे।

संक्षेप में विद्यार्थी के मुकदमे की बात पत्नी को समझाने के बाद उसका, एक हाथ अपनी हथेली में ले कर पति ने पूछा—"क्या तुम्हारी राय में वह अपराधी है?"

अपनी सरल भाषा में सदा की भाँति पत्नी ने वही उत्तर दिया—"मैं क्या जानूं !"

"नहीं, मैं पूछता हूँ," पति बोले—"कि अगर तुम मेरे स्थान पर होतीं, तो उसे दंड देतीं या नहीं ?"

पत्नी ने कहा—"अपराध का दंड अवश्य मिलना चाहिए।"

"यह तो ठीक है," पति ने फिर अपनी बात दुहरायी—"पर क्या तुम्हारी दृष्टि में उसने अपराध किया है ?"

पत्नी ने विना समझे कह दिया—"नहीं, नहीं किया।" पर फिर पति की गम्भीरतर होती हुई मुद्रा को देख, घबरा कर कहा—"अगर उस विज्ञप्ति में रेल-तार काटने, बम बनाने या ऐसे ही तोड़-फोड़ के आदेश थे, तो अवश्य ही उसने अपराध किया है।...पर क्या आज आप घूमने नहीं चलेंगे ?"

"अच्छा, तभी तो आज यह खद्दर की साड़ी पहिन कर आई हो। क्या निर्मला के यहाँ जाने की सोच रही हो ?" पति ने गौर से पत्नी की वेश-भूषा देख कर कहा—"मैं तो वहाँ न जा सकूंगा। उसके पिता को आज ही तो सजा दी गई है।"

"क्या आपने ही उन्हें सया दी !" पत्नी ने आश्चर्य से कहा—"ऐसे सज्जन पुरुष भी क्या कभी दंड पाने योग्य कोई कार्य कर सकते हैं ! मैंने तो कभी कल्पना भी नहीं की, कि उन वृद्ध को जेल में भेजा जायगा। कितने सीधे हैं वह !"

पति ने कहा—"मैंने उन्हें सजा नहीं दी, पर फिर भी मेरा उनके घर जाना उचित न होगा। तुम्हारा उनके प्रति जैसा विचार है, वैसा ही इस विद्यार्थी के विषय में भी समझ लो। यह है, वह आपत्ति-जनक पर्चा, जो उसके पास से निकला था।" मिस्टर विश्वास ने मेज पर रखी फाइलों में से एक फाइल में लगा वह काग़ज़ अपनी पत्नी को दिखला कर कहा।

"अच्छा, मैं इसको अभी लौट कर पढ़ूंगी, और तब बतलाऊँगी। इस समय चलें। मुझे आप निर्मला के घर पर छोड़ कर क्लब चले जाइयेगा, और लौटते समय फिर लेते आइयेगा।"

+ + +

रेल की एक दुर्घटना के कारण, क्लव से लौटते ही, मिस्टर विश्वास को उस दिन वाहर जाना पड़ा। और पत्नी से उस मुकदमे के विषय में अधिक परामर्श न हो सका। नहीं तो पत्नी शायद अपनी सहेली निर्मला की वे सभी बातें पति के सम्मुख रख देती।

दूसरे दिन घटनास्थल से लौट कर मिस्टर विश्वास फिर सीधे जेल के अहाते में स्थित अपनी अदालत में पहुँचे। घर तक पहुँचने का उन्हें अवकाश ही नहीं मिला। वहुत-सी फाइलों पर अपना निर्णय दे देने के लिए आज की तारीख दी गयी थी, और उन्हें अव फिर स्थगित नहीं किया जा सकता था। इसीलिए वे उन फाइलों पर विना फैसला लिखे ही अपना निर्णय सुना दे रहे थे, और पेशकार मुलजिम को दिये जाने वाले दंड को ही संक्षिप्त में फाइल पर लिख रहे थे। ऐसा पहले भी कई वार किया गया था। निर्णय सुना कर विस्तृत फैसला उसी शाम पेशकार से टाइप करा कर मिसल पूरी कर दी जाती थी।

हरिविनोद वाली फाइल जव पेशकार ने उनके सम्मुख पेश की, तो उन्हें कल शाम रेल की दुर्घटना पर एकत्रित हुए अफसरों की वातचीत का स्मरण हो आया। कलक्टर साहव ने राजनीतिक बन्दियों को कड़ी सजा देने की फिर हिदायत की थी। हरिविनोद की ओर देख कर मजिस्ट्रेट ने तुरन्त ही अपना निर्णय सुना दिया—"दो वर्ष का कठिन कारावास।"

पेशकार ने जव उस फाइल को सँभाला, तो उस जव्त-शुदा कागज को उसमें लगा हुआ नहीं देखा। एक वार फिर सभी कागजों को उलटा-पलटा, पर वह पर्चा, जिसके कारण अभियुक्त को सज़ा हुई थी, उसे कहीं नहीं मिला। मन-ही-मन सोचा, 'अच्छा हुआ, जो आज अभियुक्त का वकील अदालत में नहीं है, नहीं तो, उस कागज के विषय में न जाने क्या वहस छिड़ पड़ती, और शायद उसके गुम हो जाने के कारण सारा मामला ही उलट पड़ता।'

शाम को पेशकार को अपने घर पर वुला कर जव मिस्टर विश्वास फैसला लिख रहे थे, तो दवी जवान में पेशकार ने कहा—"हुजूर, वह पर्चा इस मिसल में नहीं है।"

"नहीं है !" आश्चर्य से मिस्टर विश्वास ने पूछा—"तब वह गया कहाँ ?"

"मैंने उसी समय अदालत में भी उसे बहुत खोजा, पर वह कहीं नहीं मिला।" पेशकार ने कहा।

"इतना महत्वपूर्ण केस है, और इसमें से वह कागज . . ."यह कहते-कहते मिस्टर विश्वास रुक गये। उन्हें सहसा स्मरण हो आया, कि कल शाम को पत्नी से इस विषय में परामर्श किया था। हो-न-हो उसीने यह पर्चा निकाला और फिर उसमें रखना वह भूल गयी।

'पेशकार के सम्मुख क्या यह बात उन्हें प्रकट कर देनी चाहिए ?' यह सोचते-सोचते ज्यों-त्यों उन फाइलों के सम्बन्ध में उलटे-सीधे निर्णय लिख कर पेशकार को जब मिस्टर विश्वास ने विदा किया, तो यह कहना भी न भूले, कि "उस कागज को ढूंढ़ने का फिर प्रयत्न कीजिए। मैं भी यहाँ अपने कागजों में देखूंगा।"

पर यह कह चुकने के बाद आत्म-प्रतारणा से उनकी मुद्रा विकृत हो गयी। वे सोचने लगे, 'वह पर्चा इस समय मेरी पत्नी के पास है। यह जानते हुए भी मैं इतना झूठ बोल गया। क्या मुझमें इतना आत्मबल नहीं, कि मैं पत्नी को वही कागज रखने के अपराध में उसी भाँति दंडित करूँ, जिस भाँति मैंने उस विद्यार्थी को किया ! इस समय यदि कोई पुलिस-पार्टी आ कर मेरे घर की तलाशी ले, तो मुझे भी वही दंड मिलना चाहिए, जो मैंने उस विद्यार्थी को दिया। मैं तो उस कागज को सरकारी तौर पर रख भी सकता हूँ, पर मेरी पत्नी का रखना तो उचित नहीं !'

पत्नी के कमरे में आ कर उन्होंने देखा, कि वह उसी कागज को अपनी सहेली निर्मला को दिखला रही है।

'हाय, यह मैंने क्या किया ! क्यों उस पर्चे के विषय में पत्नी से बातचीत की ! यह सब क्या हो गया !' यह सोचते हुए मिस्टर विश्वास फिर उस कमरे से वापस हो कर अपने कमरे की ओर जाने लगे, पर फिर लौट कर बोले—"सुषमा, वह पर्चा मुझे दे दो। उसकी आवश्यकता है।"

पत्नी ने बैठे-बैठे कहा—"अभी लायी, निर्मला उसकी नकल कर रही है।"

'निर्मला उसकी नकल कर के अपने पास रक्खेगी ! तो उस पर्चे का अनुचित उपयोग भी मेरे ही घर में मेरी पत्नी द्वारा हो रहा है, और उस निर्मला के द्वारा, जो उसी कालेज की छात्रा है, जहाँ अभियुक्त पढ़ता है ! कैसा अनर्थ है ! मैंने यह क्या किया ! यह कैसे हुआ ?' मिस्टर विश्वास मन-ही-मन अपने पर झल्ला उठे।

"तुम्हें उस पर्चे को नकल करवाने को नहीं देना चाहिए," मिस्टर विश्वास ने अभद्रता से उन्हीं दोनों के समीप आ कर कहा—"लाओ, कहाँ है ?" और झपट कर उसे ले अपने कमरे में पहुँच, मेज की दराज के अन्दर डाल कर, फिर दराज का ताला लगा दिया। और आज इतने दिनों के उपरान्त पत्नी से विना कुछ कहे वे अकेले ही टहलने चल दिये। रात को देर से लौटे और पत्नी से विना बोले ही चुपचाप खाने की मेज पर बैठ कर खाना खाने लगे। उस समय उनके हृदय के अन्दर इस बात पर द्वन्द्व हो रहा था, कि उस पर्चे के विषय में पत्नी से कुछ बुरा-भला कहना चाहिए या नहीं। कभी वह उस सारी घटना के लिए अपने ही को दोषी ठहराते, और कभी सारा दोष पत्नी का ही समझने लगते।

अब तक उन दो प्राणियों के परिवार में जितने भी छोटे-मोटे झगड़े और मन-मुटाव हो जाते, उनका एक ही प्रकार से अन्त होता—एक मधुर चुम्बन द्वारा। पत्नी आज भी, अपने अपराध की ग्लानि से गड़ी जा रही थी, और सोच रही थी, कि अभी पति बोलेंगे और अभी उस अंत का आरम्भ होगा। पर खाना आरम्भ हो गया, और पति ने पत्नी की ओर आँख उठा कर भी नहीं देखा। गोश्त मिली, उस विशेष प्रकार से बनी हुई तरकारी की एक और प्याली, जो पति को बड़ी अच्छी लगती थी, उनकी ओर बढ़ाते समय पत्नी का हाथ उनके कंधे से छू गया, पर पति ने फिर भी आँख नहीं उठाई, और न उस तरकारी के ही विषय में कुछ कहा।

भोजन कर चुकने के बाद जब पति उठे, तो पत्नी ने आधा भी खाना नहीं खाया। वह भूखी ही उठ गयी। और दिनों की भाँति पति ने उसे बरबस एक-

दो ग्रास और खाने का आग्रह नहीं किया। हाथ धो कर वे जब अपने कमरे की ओर न जा, बाहर दफ्तर की ओर जाने लगे, तो पत्नी ने रुँआसी हो कर, साहस-पूर्वक कहा—"आपके लिए एक पत्र है।"

वह अपने अपराध के लिए पहले क्षमा माँग, फिर उस पत्र के विषय में कहना चाहती थी। पर पति की उस क्रोधपूर्ण मुद्रा को देख उसने अपने हृदय की असली बात न कह कर, उस पत्र को देकर ही बातचीत का क्रम आरम्भ करना चाहा।

पति ने लौट कर कहा—"कहाँ है वह पत्र?" और पत्नी की ओर इतनी देर के बाद पहली बार पूर्णरूप से देखा। वह अपनी कातर आँखों से क्षमा-याचना के हेतु उनकी ओर निर्निमेष देख रही थी। उन आँखों में तत्काल आँसू डब-डबा आये, और पति के वक्ष में एकाएक अपना सारा भार-सा डाल कर उसने रोते-रोते कहा—"मुझे क्षमा कर दीजिए। मुझे मालूम न था, वह कागज इतना महत्वपूर्ण है।" फिर वह सिसक-सिसक कर रोने लगी।

'अपने अपराध के लिए मैं इस बेचारी को भी व्यर्थ ही कष्ट दे रहा हूँ।' मिस्टर विश्वास ने सोचा, 'सारा दोष तो मेरा ही है। मैंने ही इस विषय में इससे परामर्श किया था।' पर अपनी दुर्बलता प्रकट न कर के वे एकाएक प्रसंग बदल कर बोले—"मैंने आज उस विद्यार्थी को दो साल की सख्त सजा का दंड दे दिया।"

पत्नी ने एक गहरी साँस ली, और कहा—"यह अच्छा नहीं हुआ। निर्मला कह रही थी, वह विद्यार्थी बिलकुल निर्दोष था। उसके पास वैसा कोई कागज था भी नहीं, और होता भी, तो उसे पुलिस के आगमन की सूचना पहले ही मिल चुकी थी, वह उस कागज को जान-बूझ कर अपने पास कभी न रखता।"

"यह सब विश्वास के योग्य बातें नहीं हैं।" पति बोले। यद्यपि मन-ही-मन वे भी इस तथ्य की सत्यता पर स्वयं अविश्वास नहीं कर रहे थे।

"निर्मला झूठ नहीं बोलती," पत्नी ने कहा—"वह बतला रही थी, कि उसने पुलिस के आने का समाचार उस विद्यार्थी तक पहुँचाया था। दरोगा को वार्डन के बँगले की ओर जाते देख कर, उसने समझ लिया था, कि उसी विद्यार्थी की तलाशी ली जाने वाली है।"

मिस्टर विश्वास ने कहा—"पर अब क्या किया जा सकता है ? अब तो निर्णय लिखा जा चुका है।"

"आप उसकी सजा रद्द कर दीजिए।" पत्नी बोली।

हँस कर अपना एक हाथ पत्नी की ओर आलिंगन हेतु बढ़ाते हुए पति ने कहा—"कैसी भोली हो तुम, मेरी रानी ! यह कभी सम्भव नहीं हो सकता। किसी भी न्यायधीश को यह अधिकार नहीं है। वह विद्यार्थी था बड़ा शैतान। अदालत में भी मुझे गाली देने से नहीं चूका। अदालत का अपमान करने के अपराध में भी मैं चाहता, तो उसे अतिरिक्त सजा दे देता। पर मैंने यह नहीं किया।" यह वे कह तो गये, पर मन-ही-मन उन्हें भी उस विद्यार्थी के दुर्भाग्य पर दुःख हुआ।

अगले दिन प्रातःकाल फिर मि० विश्वास के बँगले पर ही पेशकार ने टाइप किये उन सब फैसलों पर उनके दस्तखत कराये। उन फैसलों में हरिविनोद का भी फैसला था। उसे पेश करते समय मिस्टर विश्वास ने उस पर्चे के विषय में अपनी अन्यमनस्कता का अभिनय-सा करते हुए कहा—"क्यों पेशकार साहब, क्या वह पर्चा नहीं मिला ?"

पेशकार ने अपनी जेब टटोली और वैसा ही एक पर्चा निकाल कर कहा—"हुजूर के दस्तखत इस पर नहीं हैं।"

"मुझे तो याद है," मिस्टर विश्वास ने अपना आश्चर्यपूर्ण कौतूहल प्रकट करते हुए कहा—"मैंने अवश्य अपने हस्ताक्षर किये थे।"

"किये तो थे, हुजूर", पेशकार ने उसी प्रकार उदासीन भाव से कहा—"पर अब भी तो फाइल मुकम्मिल (पूर्ण) हो जानी चाहिए। इसलिए यह नया पर्चा लाया हूँ। गवाहों के दस्तखत तो दरोगा जी से करा लिये हैं।"

"यह नया पर्चा है, वही नहीं है ?" मिस्टर विश्वास ने कहा।

पेशकार ने अपने सदा की तरह स्वाभाविक स्वर में कहा—"है तो हू-बहू वैसा ही, पर वही नहीं है। वह खो गया था, बहुत ढूंढ़ा, पर कहीं मिला नहीं।

मुकदमा अगर अपील में गया, तो फिर जवाब देते न बन पड़ेगा। इसीलिए यह नया पर्चा तैयार कराया। गवाह भी वही हैं।"

"यह नया पर्चा कहाँ से आ गया था ?" मजिस्ट्रेट ने पहली बार आवेश में आ कर कहा—"जिसके पास से यह आपको प्राप्त हुआ, क्या वह भी इसी अपराध में पकड़े जाने के लिए तत्पर है ?"

पेशकार को डिप्टी साहब की इस अनोखी बात पर आश्चर्य हुआ। वह बोला—"हुजूर, अगर ऐसे अवसरों के लिए पुलिस वाले पहले से ही सतर्क न रहें, तो उनका काम ही कैसे चले !"

मजिस्ट्रेट मिस्टर विश्वास ने कहा—"मैं इस कागज पर दस्तखत नहीं करूँगा। आप अपने कागजों को उठा कर ले जाइए।"

कमरे के अन्दर आ कर उन्होंने पागलों की भाँति कमरे का चक्कर लगाना आरम्भ किया। वे सोचने लगे, 'न्याय का सारा ढोंग कितना विकट रूप धारण कर चुका है ! जो वास्तविक अपराधी है, उसे जान-बूझ कर मैं छोड़ देता हूँ, और जो निर्दोष है, उसे दंड देता हूँ। स्वयं दोषी और निर्दोष व्यक्ति को स्पष्ट जान कर भी मुझमें न वह बल है, और न क्षमता, कि मैं उनमें से दंडनीय को ही दंड दूं, और निर्दोष को मुक्त कर सकूं !'

कमरे में इसी प्रकार असह्य पीड़ा से व्याकुल व्यक्ति की भाँति वे चक्कर लगाते रहे। कभी जोर-जोर से फर्श पर पाँव पटक कर असंगत भाव से बड़बड़ा उठते—'मैं इसके अतिरिक्त और कर ही क्या सकता था ! क्या ऐसा ही सब न्यायाधीश नहीं करते ! लिखित बातों के अतिरिक्त और किसी सुनी हुई बात या किसी अन्य सूत्र से प्राप्त ज्ञान के सहारे तो अभियुक्त को दंडित या मुक्त नहीं किया जा सकता !'

फिर अपनी चारपाई पर चित लेट कर उन्होंने दोनों आँखें बन्द कर लीं। सोचा, 'मेरी वह पशु-प्रवृत्ति मुझे इतना नीचे गिरा ले गई है, कि अपनी ख्याति के सम्मुख मुझसे ठीक से न्याय करते नहीं बन पड़ता।"

पत्नी ने उस समय चारपाई के निकट आ कर आशंका पति के माथे पर

हाथ रखते हुए कहा—"क्या आज फिर सिर-दर्द हो गया है ?" पसीने से भीगे, ठंडे मस्तक का स्पर्श होते ही फिर सुस्थिर हो कर बोली—"मैं यह पत्र देना तो कल भूल ही गई थी। यह निर्मला ने आपको ही दिया है।"

पति ने अन्यमनस्कता से कहा—"तुम्हीं खोल कर सुना दो। क्या लिखा है ? शायद उसी विद्यार्थी के बारे में लिखा होगा।"

"नहीं, मुझे खोलने की आज्ञा नहीं दे गयी है।" पत्नी ने कहा—"कहा है, कि वे अपने हाथ से ही खोलें।"

मिस्टर विश्वास ने आँखें खोलीं, और इच्छा न होते हुए भी, पत्नी के आग्रह से उस पत्र को खोला और पढ़ा। लिखा था—

'आप-जैसे बुद्धिमान व्यक्ति भी इस समय इस विदेशी सरकार का साथ दे कर अपनी मातृ-भूमि के साथ विश्वासघात कर रहे हैं। भारत के स्वतन्त्रता-संग्राम में इस समय बाधा डालना अधर्म ही नहीं, भयंकर पाप है। मैं आपसे प्रार्थना करती हूँ, कि आप आज ही अपने पद से त्याग-पत्र दे दें।'

ऐसे बिना नाम के कई पत्र पहले भी आ चुके थे। कई बार तो भेजने वाले जेल भी भेजे जा चुके थे, पर आज मिस्टर विश्वास को उस पत्र में एक नई ज्योति-सी दिखलाई दी। अपना वह पुराना जीवन उन्हें स्पष्ट दीख पड़ा, और पाशविक प्रवृत्तियों से बन्धन मुक्त होने का सरल उपाय-सा उन्हें सूझ गया। वे चारपायी पर से उठ कर बैठ गए, और सुषमा को अपने समीप और भी खींच कर कहने लगे—"सच बतलाना सुषमा, मैं यदि आज यह नौकरी छोड़ दूं, तो तुम सुखी रह सकोगी, रुष्ट हो कर मुझे छोड़ तो न जाओगी ?"

पति के प्रगाढ़ आलिंगन में बँध कर सुषमा ने चाहा, कि कह दे, 'मैं तो आपकी आज्ञाकारिणी की भाँति हूँ। मैं क्या जानूं, आप जिस भाँति मुझे आज्ञा देंगे, उसी का अनुसरण करूँगी।' पर कभी डिकिन्स की 'टेल ऑफ़ टू सिटीज' में पढ़ा वह वाक्य उसे याद आ गया, कि 'वह सर्वोत्तम उस समय था और वही निकृष्टतम समय'। वह सम्भल कर बोली—"मैं भी आप से वही प्रार्थना करने जा रही थी, जिसे निर्मला ने लिख कर भेजा है।"

"उस निर्दोष विद्यार्थी पर किये गये अन्याय का इससे कुछ प्रायश्चित्त हो जायगा।" पति ने कहा।

"पर उसके लिए तो हमें भी जेल की यातना सहनी चाहिए।" पत्नी ने गर्व से कहा।

"तब क्या तुम मन-ही-मन इसकी तैयारी कर चुकी हो?" आश्चर्य से पत्नी की उन बड़ी-बड़ी आँखों में घूरते हुए पति ने पूछा—"मुझे तुमने अब तक नहीं बतलाया!"

पत्नी ने उत्तर दिया—"हाँ, आपकी आज्ञा की प्रतीक्षा थी। अब आपको स्वीकार हो, तो मैं इन चार पत्रों को आपके साथी डिप्टी कलेक्टरों को अपने हाथ से दे आऊँ।" अपने आँचल से वैसे ही चार और पत्र निकाल कर सुषमा ने पति को दिखलाए। पति ने कहा—"तुम्हारा निर्णय ठीक है।"

तीर्थ-यात्रा

पहाड़ का एक कुहनी के आकार का कोना, जिसे कुमायूं के इस पर्वत-प्रदेश में, पहाड़ की धार कहते हैं, यहाँ पर आ कर समाप्त हो गया, और एक नया भूमि-भाग, जो अब तक इस धार की ओट छिपा हुआ था, दृष्टिगोचर हुआ। सड़क अब पहाड़ की चढ़ाई पर बल खाती हुई, सुरई, देवदारु और भोज के पेड़ों की हरी-हरी पृष्ठ-भूमि पर श्वेत लता-सी, पर्वत पर लुकती-छिपती-सी दिखलाई दे रही थी।

"स्वामी जी, वह सामने गुप्त काशी है," साथ में चलने वाले उस यात्री ने कहा। जोशी ने (स्वामी जी का यही वास्तविक नाम था) पहाड़ के ऊपर संकुचित सड़क के दोनों ओर श्वेत मकानों की आठ-दस पंक्तियों को देख कर मन-ही-मन कहा, 'आह, यह है गुप्त काशी, मन्दिरों के दो-एक गुम्बद और पीतल के कलश भी चमक रहे हैं। इतने बड़े भारतवर्ष का जैसे एक छोटा-सा उभरा हुआ मान-चित्र विद्यार्थी पाठशाला के आँगन में बना लेते हैं और उसी में गंगा-यमुना, सिन्धु आदि की गहरी लकीरें-सी बना कर पानी भर देते हैं, और समुद्र को भी एक छोटा-सा तालाब का रूप दे कर, यथार्थ हिन्दुस्तान बनाने का प्रयत्न करते हैं, ऐसे ही प्राचीन ऋषि-मुनियों ने पर्वतों के बीच से निकलने वाली इन दो धाराओं को गंगा-यमुना का नाम दे कर वाराणसी, काशी, का यह मान-चित्र-सा बनाया होगा।'

ज्यों-ज्यों दोनों यात्री वाराणसी—काशी—के ऋषि-रचित मानचित्र-सी इस नगरी के निकट आते जाते, त्यों-त्यों इसका आकार स्पष्ट होता जाता। सब से निकट के मकान के आगे दूकान-सी थी। उसके आगे बेंच पर जोशी की दृष्टि पड़ी, तो वह एकाएक ठिठक-सा गया। पुलिस का एक कांस्टेबिल ठीक उसकी ओर देख रहा था।

'काशी से भाग कर अब तक जिस सत्य के सहारे इस गुप्त वेश की रक्षा की है, क्या अब गुप्त काशी में इसकी अवधि समाप्त होजायगी ?' यही मन-ही-मन सोच कर जोशी चलता रहा। इच्छा हुई, कि सिपाही की दृष्टि से बच जाने के लिये रुक जाये, पर कुछ इस विचार की अस्पष्ट वेदना से और कुछ अपने साथी की शंका निवारणार्थ वह चलता रहा।

"स्वामी जी, अब केदारनाथ धाम," साथी कहने लगा—"सिर्फ बारह कोस रह गया है।"

जोशी कुछ भी न बोला। पहाड़ की ढाल पर छिटके हुए उन श्वेत मकानों की पंक्तियों को और सीढ़ी के आकार के खेतों पर उसे लाल-लाल फाफर के पुष्पों को उसने देख भर लिया। जिस प्रगल्भता से, पर्वत-प्रदेश का सौन्दर्य, यह साथी—इनसे इतनी देर से सुनता आ रहा था, वही 'स्वामीजी' की प्रगल्भता अब सहसा लुप्त-सी हो गयी।

बनारस विश्वविद्यालय के इस विद्यार्थी को, जिसका पूरा नाम दिवाकर चिन्तामणि जोशी था, "स्वामी" का वेश धारण किये अभी कुछ ही महीने बीते थे। राजनीतिक दंगे में गिरफ्तार होने के बाद इसे चार वर्ष के कारावास का दण्ड मिला था। अपने और साथियों की कृपा से किसी प्रकार यह जेल से भाग निकला था। हरिद्वार और ऋषिकेश में कुछ समय साधुओं के पास बिता कर, अब इन हिमालय-पर्वतों में तीर्थ-यात्रा के बहाने, आ निकला था। पुलिस से इसे डर तो अवश्य था; पर इस समय एकाएक उस लाल पगड़ी वाले सिपाही को देख कर ठिठक जाने का कारण केवल डर ही न था, जोशी इसे अपने शब्दों में 'घृणा' कहा करता था। किसी जीव को देख कर एकाएक जी मचल उठता है, और बच कर जल्दी उसके पास से निकल जाने की इच्छा होती है, ऐसी ही इच्छा उसको इन लाल पगड़ी वालों को देख कर होती थी। कई दिनों तक रियासत गढ़वाल में यात्रा करने में, इस भावना को प्रादुर्भाव का अवकाश न मिला था; क्योंकि ऐसे जीव उधर कहीं दिखलाई न दिये थे, पर सहसा यहाँ पर इस एक ऐसे व्यक्ति पर दृष्टि पड़ते ही, सुप्त, किन्तु चिर-संचित उस अमिट दुसह्य भावना को

जागृत होने में झटका-सा लगा, उसीसे हृदय में एकाएक रक्त की गति शब्दमय हो गयी, और उसका 'धक-धक' शब्द, पर्वत-शिलाओं पर टकराती हुई निकट-वर्ती अलकनन्दा की सायँ-सायँ ध्वनि को भी पार कर के कानों में गूंजने लगा।

आँख उठा कर जोशी ने फिर उसी दूकान को देखा। पर एक दम उसी सिपाही पर दृष्टि नहीं डाली। पहले स्लेट की छाई हुई छत को, फिर लकड़ी के जंगले पर पड़ी टीन की चादरों को, और तब धीरे-धीरे वहाँ से आँख हटा कर बेंच को देखा। तब बड़ी उदासीन, निष्फल-सी दृष्टि उस सिपाही पर डाली। पर वह ठीक उसी की ओर अब भी देख रहा था।

मन-ही-मन सिपाही को गाली देते हुए जोशी ने दाँत पीस कर कहा—"हियर टू यू हैव फाउंड यौर वे, डैम यू रासकल !" (कम्बख्त, यहाँ भी तू आ पहुँचा है, बदमाश कहीं का !) और वहीं सड़क के किनारे, एक बड़े से पत्थर पर बैठ कर साथी से कहा—"तो अब केदारनाथ पहुँच ही गये। लाओ भाई, तुमने तम्बाकू पीना जो सिखला दिया है। अब कभी-कभी पीने को भी जी करने लगता है। कुछ पोटली में ?"

"हाँ स्वामी जी," साथी ने कहा—"चढ़ाई पर मेरी भी साँस फूल जाती है, और मैं भी यही सोच रहा था।"

"और मेरे डर से कह न सके थे ?" जोशी ने मुस्करा कर कहा। कंकड़-पत्थरों को हटा कर, अपने कमण्डलु को जमीन पर ठीक तरह से रख कर, एक बार फिर नील आकाश की पृष्ठ भूमि पर उस दूकान की ओर देखा और तुरन्त ही उस ओर पीठ कर के नीचे बहती हुई अलकनन्दा की ओर देखना शुरू कर दिया।

"चिलम भर कर दूं, या बाँज की खोपी में पीजियेगा ?" साथी ने पूछा।

"बाँज की खोपी में," जोशी ने कहा—"लाओ, हमको भी एक-दो पत्ते देना बाँज के। देखते हैं, हमसे बनती है, कि नहीं।"

बाँज के पत्ते तोड़, सूची के आकार की दो चिलमें बना कर उनमें आधी

लम्बाई तक उस साथी ने सूखी तम्बाकू भर दी, और पास ही कुछ सूखे पत्तों को जला कर जलती हुई चिनगारियाँ दोनों सूचियों में (जो इस प्रदेश में 'खोपी' कही जाती है) रख दी। एक सूची अपने हाथ में ले कर दूसरी जोशी को दे दी। साथी उसे दोनों हाथों के बीच ठीक चिलम की तरह रख कर धुआँ खींचने लगा। पर जोशी ने उसे पीने की नयी तरकीव निकाल रक्खी थी। वह उसके पतले सिरे को ओठों के बीच दबा कर आकाश की ओर मुंह कर लेता था, और सिगार की तरह उसे पीता था।

'कितनी बार मैं पुलिस के चंगुल से बच चुका हूँ। इन तीन महीनों में मेरी जीवनी कितनी मनोरंजक रही है।' जोशी आकाश में उठती हुई उन धुएँ की गोल-गोल आकृतियों की ओर देख कर सोचने लगा, 'जेल के फाटक पर मैं पकड़ लिया गया था। वार्डर ने पूछा था—"कौन हो तुम?" मैंने सच बतला दिया था, कहा था—"मैं हूँ डी० सी० जोशी।" "क्यों आये थे इधर?" उसने मेरी तत्परता से संकुचित हो कर फिर पूछा था, और मैंने उसी तत्परता से कहा था—"छुड़ाने आया था दिवाकर को।" "अच्छा, ज़मानती हो तुम!" उसने बिना मुझे पहचाने कहा था, और चलते-चलते मैं बोला था—"हाँ-हाँ।" तब उसने मुझे फिर जाने दिया था।

'हरिद्वार में रेलवे स्टेशन पर जी० आर० पी० का वह दरोगा मिल गया, हरिनारायण पाठक। बी० एस-सी० में कुछ दिनों मैं और वह साथी रहे थे। 'डिफरेंशियल कैलकुलस' से घबरा कर वह दो ही महीने के बाद पुलिस ट्रेनिंग स्कूल, में चल दिया था। हरिद्वार के स्टेशन पर ज्यों ही मैं उतरा, बोला था—"जोशी आज यह कमण्डलु कहाँ ले जा रहे हो?" मैंने कहा—"ऐसे ही, एक साधु ने मँगाया था, सो लिये जा रहा हूँ।" "कमण्डलु के लिये क्या हरिद्वार की यात्रा करनी पड़ी है?" उसने पूछा था। और सरलता से मैंने कहा था—"नहीं, हरिद्वार की यात्रा के लिये कमण्डलु की आवश्यकता पड़ गई थी, इसलिये लेता आया।" रेलवे के जलपान-गृह में चल कर चाय पीने का आग्रह उसने किया था, और मैंने भी इनकार नहीं किया।

'चाय पीते-पीते उसने कहा था—"यूनीवर्सिटी तो शायद दंगे के कारण बन्द हो गई है।" मैंने सिर हिला कर कह दिया था—"हाँ।" "तो तुम भी इधर भाग आये होगे, कि कहीं पकड़-वकड़ न लिये जाओ ?" उसने पूछा था। "हाँ, मैं भी भाग आया हूँ।' मैंने उत्तर दिया था।

'"भाग क्यों आये हो, मैं भी सब पता रखता हूँ।" उसने कहा था, और तब मैंने सोचा था, कि अब पकड़ लिया गया। पर दूसरे ही क्षण वह बोल उठा—"इधर जो हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन होने वाला था, उसीमें कुछ व्याख्यान देने की मंशा होगी तुम्हारी ?" संतोष की साँस-सी ले कर मैंने कहा था—"हाँ, कुछ ऐसा ही है।" और तब उसने कहा था—"तुम्हारे सभा-सम्मेलनों के मारे बुरा हाल है मेरा। लिखने-पढ़ने के डर के मारे पुलिस में नौकरी करने आया था। यहाँ भी जब उसी लिखने-पढ़ने का काम होने लगता है, तो यही सोचता हूँ कि पल्टन में नाम दे दूं। कहो, तुम्हारी कैसी राय है ?" और तब गाड़ी की सीटी सुन कर अपने बड़े विशाल हाथ से मेरे हाथ को मिलाने के लिये ज़बरदस्त झटका-सा, दे कर वह चल दिया था। मैं उस समय उसे अपनी राय न दे सका था, सोचा तो मैंने था, कि कह दूं, नौकरी छोड़ दो, देश की आज़ादी में भाग लो, नेहरू और गाँधी का अनुकरण करो। पर अच्छा ही हुआ, जो जल्दी उठ कर जाना पड़ा। नहीं तो शायद 'मेरी राय' मेरे कारावास का फिर कारण बनती।'

इन्हीं मधुर विचारों की जुगाली-सी लेता हुआ जोशी तम्बाकू के धुएँ के बादलों की उन गोलाकार आकृतियों से खेल-सा रहा था, कि किसी ने पीछे से कहा—"आइये, स्वामी जी, ऊपर आइये।" बूट की आवाज़ के बीच इन शब्दों को सुन कर जोशी ने कन्धे के ऊपर से, बिना पूरी तरह मुड़े हो, पीछे की ओर देखा। पुलिस का वही सिपाही था।

"ऊपर बैठने का अच्छा प्रबन्ध है, चलिये।" उस सिपाही ने कहा और जोशी इस अयाचित निमन्त्रण से अधिक प्रसन्न होने का उपक्रम करता हुआ उठ कर खड़ा हो गया, और बोला—"चलो भाई।"

थोड़ी दूर चल कर सिपाही ने देखा, स्वामी जी कमण्डल तो पीछे ही छोड़ आये हैं।

"कमण्डल तो आपका ही है ?" उसने कहा।

"अरे हाँ !" कहते हुये स्वामी जी पीछे मुड़े, तो सिपाही ने उसे खुद पीछे लौट कर उठा लिया।

"सोबनसिंह, स्वामीजी के लिये चाय तो बनाओ।" उस सिपाही ने दूकानदार को सम्बोधित कर के ठेठ गढ़वाली भाषा में वैंच पर बैठी हुई एक पहाड़ी औरत को उधर खिसक जाने को कहा, और बैंच का एक किनारा उनके बैठने के लिए खाली करवा दिया। बैठ कर जोशी इस अप्रत्याशित सम्मान के विषय में सोचने लगा। पर किसी भी अतीत की घटना से इस पुलिस के सिपाही को अथवा आस-पास बैठे अन्य आदमियों को सम्बोधित न कर सका। अब फिर एक बार उसने अपन निकट बैठे हुए सभी व्यक्तियों को ध्यान से देखा, जैसे जल्दी से रेल में सवार होने के उपरान्त, हम रेल के चलने पर, आगन्तुकों के धक्के-मुक्कों से निश्चिन्त हो कर अपने साथियों की ओर किसी परिचित चेहरे को एकाएक पा जाने की आशा से देखते हैं। पर वहाँ पर कुछ भी परिचित-सा न दिखलाई दिया। दूकान दोमंज़िला थी। जितनी स्वच्छ और आकर्षक वह नीचे सड़क पर से दिखलाई दे रही थी, उतनी ही मैली और कुरूप पास आ कर जान पड़ने लगी। आटा, चावल, दाल आदि के खुले लकड़ी के बक्सों के उस पार बकरी की खाल बिछी हुई है। पास में एक हाथ भर ऊँची बेंच पर डाकखाने की मुहर, मुहर लगाने की काली स्याही और बादामी रसीद काटने का रजिस्टर पड़ा हुआ है। दूकान के बाहर चौखटे पर लोहे की दो तख्तियाँ हैं। एक पर लिखा है— 'भीतर मति आओ।' और दूसरे पर 'ब्रांच पोस्ट आफिस।' उन पास की सभी वस्तुओं में यही दो तख्तियाँ जोशी को मानो चिर-परिचित-सी जान पड़ने लगीं। यही अशुद्ध वाक्स 'भीतर मति आओ' उसने इधर कई डाकखानों पर लगा देख लिया है।

"क्यों भाई, क्या तुमने कभी पहले भी मुझे देखा है ?" जोशी ने उस सिपाही

को सम्बोधित करते हुए, अब कुछ निश्चिन्तता से कहा, और ठीक सिपाही की आँखों में न देख कर दूकान के ऊपर दोमंज़िले की ओर देखने का उपक्रम-सा किया।

"नहीं स्वामीजी, पहले तो नहीं। उस रोज़ हरिद्वार में आप पाठक जी के साथ तो थे। मैं साल भर उन्हीं की मातहती में रहा हूँ, जब वे मीनापुर के थाने में नायब थे। बड़े अच्छे अफसर हैं साहब, गाय से सीधे।"

पर जोशी की आँखें इस समय उस दोमंजिले पर लगे एक साइनबोर्ड पर और उसके पास ही टंगे एक और इश्तहार पर थीं। साइनबोर्ड पर लिखा था—"यात्रा-लाइन पुलिस की चौकी", और इश्तहार पर जो कुछ अंकित था, वह इतनी दूर से अस्पष्ट-सा होते हुये भी एकाएक जोशी के सारे शरीर में एक प्रकम्पन-सा पैदा कर गया। जिस निर्मल और प्रशान्त हँसी के भाव में, निश्चिन्तता से उसने पूछा था कि क्या तुम मुझे जानते हो, और सिपाही के उत्तर की स्पष्टता से जिस और अधिक निश्चिन्तता का मार्ग सा खुल गया था, वह एकाएक फिर बन्द हो गया, और जोशी क्षण भर के लिये अपनी निर्विकार गम्भीरता को स्थिर न रख सका। पर क्षण भर ही उसे सुस्थिर होने में भी लगा। इस आकस्मिक भाव-परिवर्त्तन के प्रभाव को समीप बैठे हुओं से यथाशक्ति गुप्त रख कर अपने को अविचलित दिखलाने के लिये उसने सिपाही के उत्तर का अन्तिम वाक्य फिर दुहराया—"हाँ, गाय से सीधे हैं, पाठक साहब! जानते हो, जब हम लोग साथ ही स्कूल में पढ़ते थे, तो उन्हें बैल कहा करते थे। ऐसे मोटे थे वे, नींद भी उन्हें खूब आती थी। सुबह जब देर तक न उठते थे, तो हम कहीं से भूसा या घास ला कर उनके कमरे में डाल देते थे।"

सिपाही जोर से हँस पड़ा और हँसते-हँसते बोला—"हाँ साहब, मोटे तो वह बहुत हैं।" पास बैठे लोगों पर भी इस हँसी का प्रभाव पड़ा, और हास्य के इस आवरण में जोशी ने फिर मानो कुछ और साहस-सा बटोर लिया, कहा—"अच्छा, नीचे डाकखाना है, और ऊपर दोमंजिले में थाना।" इस चौकी के

लिये जो थाने का प्रयोग कर लिया, उसी का मानो प्रभाव-सा इस सिपाही की मुद्रा पर जोशी पढ़ने-सा लगा।

"थाना क्या है," सिपाही ने कहा—"तीन सिपाहियों के लिये यह एक जेल ही है। चौकी का नाम वदनाम किया है। न इसमें चारपायी की जगह है, और न कहीं खाना वनाने को चूल्हा-चौका! देश में पुलिस की चौकियाँ थाने से क्या कम होती ह ?"

जोशी इश्तहार की वात पर फिर आ कर, सिपाही की शङ्का का (कि शायद वह इश्तहार को देख कर एकाएक मेरे चौंक जाने को ताड़ न गया हो) अन्त कर देना चाहता था। इसलिये उसने पूछा—"अच्छा, उस नोटिस-बोर्ड पर वह तस्वीर वाला इश्तहार क्या है ?"

"स्वामीजी, वही तो हम लोगों को यहाँ तैनाती का कारण है। जेल से कोई काँग्रेसी भाग निकला है, उसी का फोटो है। इस पहाड़ में न कोई सिनेमा है, न वाइस्कोप; जो तस्वीर वाले इश्तहार देखने को मिलें। सोहनसिंह, सच कहता हूँ, जव मैं सिनेमा-घर की ड्यूटी पर देश में जाता था, तो सैकड़ों तस्वीरें रोज़ ला कर बाँट देता था। नोकरी तो देश की अच्छी। चलने-फिरने को ताँगा, इक्का, मोटर। खाने-पीने को एक-से-एक वढ़िया चीज़ें, और पहनने में वही वर्दी रोज़ पहन लो और कपड़े चाहिये भी नहीं। यहाँ, एक-दो नहीं, चार कपड़े एक के ऊपर एक पहने हैं, फिर भी जहाँ धूप उस पार गई, कि जाड़े से थर-थर! चलना सैकड़ों कोस, और वह भी पैदल। स्वामीजी, मैं तो वस रोज़ डाक का इन्तज़ार करता हूँ, कि कव हुक्म आये कि वापिस आ जाओ और कव चल दूं।"

जोशी इश्तहार की वात पर फिर आना चाहता था, पर सिपाही ने अपना दुखड़ा रोना शुरू कर दिया। वनारस के हिन्दू-मुसलिम दंगे के समय उसने एक प्रोफेसर साहव से खतरे से वचने की एक नई विधि सीखी थी। वाज़ार के समाचार लाने के लिये जव वे जाते थे, तो जहाँ पर देखते, कि आपत्ति की आशंका है, लोग कानाफूसी कर रहे हैं और शायद उन पर भी हमला

न कर दें, व बजाय भाग निकलने के, खड़े हो जाते, और फिर वहीं झुक कर अपने जूते के खुले फीतों को बाँधने का, अथवा पतलून की उलटी हुई किनारी के अन्दर जमी हुई गर्द को झाड़ने का बहाना करते और तब धीरे से बड़ी धीमी-सी चाल से आगे बढ़ जाते। इसीलिये अब अपने इस छद्मवेश को सुरक्षित रखने में जोशी को पकड़े जाने का डर होता था। वह ठीक अपने डर के कारण का ही आश्रय लेता था। उस इश्तहार में अपना ही चित्र देख कर उसे जो भय हो गया था, उसे अब तक की इस बात-चीत ने दूर तो अवश्य कर दिया था, किन्तु अब उसी को अपने बचाव का भी कारण वह बना लेना चाहता था।

"अच्छा, तो कोई इसी पहाड़ के नेता हैं वे ?" जोशी ने कहा—"जिनके लिये यह सूचना निकली है। जरा मैं भी देख लूं न इस ओर के नेताओं को।"

"यहाँ खाने को अन्न नहीं मिलता। जंगली फूलों के बीज और भेड़-बकरियों के गोश्त के अतिरिक्त यहाँ और होता ही क्या है, स्वामीजी," सिपाही ने कहा—"जो यहाँ नेता लोग हों। वही नेहरू और महात्मा का नाम यहाँ भी सुनने में आता है।" और जेब से एक फटे, मुड़े हुये कागज़ को निकाल कर जोशी की ओर बढ़ाते हुए कहा—"यह लीजिए, वही इश्तहार है; पहले एक हज़ार था इनाम, अब पन्द्रह सौ हो गया है। तस्वीर एक ही है।"

जोशी ने देखा। लिखा था—

'एक हजार रुपये का इनाम

सरकार क़ैसरे-हिन्द ने इस मुलजिम को, जिसका फ़ोटो दिया गया है, मरा या जिन्दा पकड़ कर लाने वाले या इस बाबत सही-सही सूचना देने वाले को एक हज़ार रुपया का इनाम देना निश्चय किया है। मुलज़िम और कैदियों के साथ जेल से भाग निकला है। और इससे पहले वह बनारस में पढ़ता था। नाम, पूरा पता और हुलिया भी नीचे दिया गया है।'

'सकूनत' और 'हुलिये' की पंक्तियों के बाद एक और पंक्ति इस आशय की थी—

'अन्तिम बार मुलज़िम हरिद्वार में देखा गया है, और वहाँ से उत्तर की ओर जाने की आशंका की जाती है।'

इश्तहार को मोड़ कर जोशी ने सिपाही को वापस कर दिया और दूकानदार के बढ़े हुए हाथ से चाय का गिलास थाम कर एक घूंट पी लिया। तब सिपाही से कहा, "तो इसी मुलजिम की टोह में हो तुम लोग ?"

"असली काम तो यही था," सिपाही बोला—"पर और भी बेगार करनी पड़ रही है। एक शिकारी साहब आ रहे हैं। दफ्तर से हुकुम आया है कि डाक बँगले में उनके टिकने का मुकम्मिल इन्तजाम कर दो। अब साहब, यहाँ अपने ही रहने-ठहरने का तो प्रबन्ध नहीं है, उस पर इस 'मुकम्मिल इन्तजाम' का हुक्म। यह न कोई हमारा अफसर है, न कुछ। एक पल्टन का अमेरिकन गोरा है। कप्तान साहब ने बस लिख दिया, कि इन्तज़ाम कर दो।"

"तुम लगे इन्तज़ाम में, और कहीं मौका पाकर मुलज़िम निकल गया तो ?" जोशी ने कहा—"फिर इनाम से भी रह जाओगे।"

"इनाम ? इनाम की किसे चिन्ता है स्वामीजी, मैं तो यहाँ से निकल जाऊँ, तो समझिये जान बच गयी। इन पहाड़ों में अगर किसी को पकड़ भी लिया, तो कब भला मुझे वह जिन्दा रहने देगा ? धक्का भी दे कर कोई इस तीन फुट की सड़क के नीचे गिरा दे, तो पाँव टिकाने को जगह नहीं, सीधे गंगाजी में जा कर गिरें; पत्थरों से टकरा कर बोटी-बोटी ऐसे अलग हो जायगी, कि पता भी न चलेगा, इधर कोई गिरा था।"

साथी ने उठ कर कहा—"चलियेगा स्वामीजी, कि आज यहीं विश्राम कीजियेगा ?"

मन-ही-मन जोशी ने अपने से ही कहा, 'तू पुलिस से डरता तो नहीं है, दिवाकर; पर जो घृणा का भाव इनके प्रति है, उसे जागृत रख। चल आगे ही चल, ऐसी जगह में रहना ठीक नहीं। तब और एक घूंट में बाकी चाय पीकर कहा—"चलो भाई, चलो, तुम तपोवन से मेरा साथ दे रहे हो। गुरु-भाई हो। तुम्हारा साथ न छोड़ूंगा।"

"मुझे भी तीन मील आगे डाक बँगले तक जाना है।" सिपाही ने अपना बेंत उठाते हुए कहा—"मैं भी चलूंगा स्वामीजी, देश की ओर से एक भी यात्री आ जाय, तो ऐसा मालूम होता है, कि मानो सगा भाई आ गया हो।"

तीनों फिर सुनसान सड़क पर चल दिये।

"तुम तो पहाड़ी भाषा बोल लेते हो," स्वामी ने कहा—"क्या यहाँ के रहने वाले नहीं हो, जो देश जाने के लिये तरसते हो?"

"बीस-बाईस वर्ष देश में नौकरी करते हो गया है, स्वामी जी!" सिपाही ने कहा—"बाल-बच्चे वहीं हैं, पहाड़ अब मुझे अच्छा नहीं लगता। हाँ, रहने वाला मैं इसी ओर का हूँ, अगर न होता, तो शायद इधर न भेजा भी न जाता।"

"तो क्या ऐसे सुन्दर वनों, हिम से ढके इन पहाड़ों और कल-कल करती इन स्वच्छ नदियों के इस देश म जन्म ले कर", स्वामी ने नील आकाश को पीठ लगाये उस विशाल पर्वत-राशि की ओर संकेत करके कहा—"इन तारों के भाँति छिटके हुए गावों में पैदा हो कर तुम अपने को धन्य नहीं मानते?"

"इससे क्या करें, साहब?" सिपाही ने उदास हो कर कहा—"घर का हाल अगर आप सुनें, तब इसके लिये कहें। भाई की दुकान थी सहेतपुर में, वहीं अब कुछ जमीन ले रक्खी है, वहीं मेरे बच्चे भी थे। एक महीना हुआ, भाई को मुनाफा खोरी में सजा हो गई है दो साल की। बच्चे रात-दिन रो कर काट रहे हैं। मुझे छुट्टी नहीं मिलती। आठ-दस दिन की मिल भी जाय! तो करूँ क्या? रेल के स्टेशन तक जाने में ही पन्द्रह दिन लगते हैं। जुर्माना न दे सकने पर, अगर मकान भी नीलाम हो गया, तो फिर बच्चे उस परदेश में किसके घर जायेंगे!"

"जुर्माना कैसा?" जोशी ने पूछा।

"दो साल की सज़ा और एक हज़ार जुर्माना हुआ है भाई को-सिर्फ एक पैसे के लिये। दो पैसे की दियासलाई की डिबिया तीन पैसे में बेच दी थी, यह देखिये, साहब।" कहते हुये सिपाही ने एक और मुड़ा कागज चलते-चलते जोशी की ओर बढ़ा दिया। यह उसके गाँव से आई हुई चिट्ठी थी।

जोशी ने खोल कर उसे पढ़ा, और पढ़ कर यह सोचते हुए कि सचमुच मेरी

स्वयं की अवस्था भी इतनी दुखमयी नहीं, जितनी इस सच्चे सिपाही की। उसे फिर सिपाही को वापस दे दिया। अब तक जो घृणा-मिश्रित उपहास की भावना से उससे बातचीत हो रही थी, उसमें सच्ची समवेदना का भी पुट देते हुये कहना चाहा, 'अगर आज तुमको वह भागा हुआ कांग्रेसी मुलज़िम मिल जाय तो'. . .पर सहसा जबान पर आई हुई इस बात को, जबरदस्ती अन्दर ढकेल कर वह बोला—"हाँ, सचमुच इस प्रदेश के सौंदर्य से ही तुम्हारा दुःख हलका नहीं हो सकता। तुम्हें छुट्टी चाहिये, और फिर धन भी चाहिये।"

"कभी सोचता हूँ, कि छोड़-छाड़ चल दूं, पर फिर बच्चे खायँगे क्या? चार-पाँच साल और काट कर जो पेंशन मिलने की आशा है, वह भी जाती रहेगी।" चिट्ठी जेब में संभाल कर रख, एक हाथ से उमड़े हुये आँसू पोंछते हुए सिपाही ने कहा।

"यह भी तो सम्भव है।" स्वामी ने अब अपनी ही बात को पलट कर कहा —"कि कभी एकाएक वह मुलज़िम तुमको ऐसे ही मिल जाय तो, तब तुम्हारी दोनों ही समस्यायें सुलझ सकती हैं। घर भी जा सकते हो और जुर्माना भी अदा कर सकते हो।"

सिपाही यह बात सुन कर जोशी की ओर देखता रहा। यह बात इतनी सरल थी, फिर भी उसकी दूर कल्पना में अब तक कभी उदित भी न हुई थी। उसने अपनी कल्पना मे मानो इस दुर्देश में आ कर, भविष्य की समस्त आशाओं को तिलाञ्जलि-सी दे कर मन मे एक बुढ़ापा-सा एकत्रित कर लिया था। देश का घर, बाल-बच्चों की चिन्ता, जल्दी लौट जाने की आतुरता ही उसका उद्देश्य रह गया था। और इन्हीं से सम्बन्धित विचारों को लौट-फेर कर भुन-भुनाते हुए गुज़र कर के उसका मन कुछ और पाने की आशा ही न कर सका था। जोशी की यह बात देववाणी-सी उसे लगी, और वह उसकी उज्ज्वल, शान्त मुद्रा और स्थिर चक्षु, जिसे सिपाही के इस बार एक टक देखने पर भी जोशी ने फेरा नहीं, उसे सहसा एक नये प्रकाश-पुंज से उद्दीप्त जान पड़े।

सड़क अब और भी पतली हो गई थी, और उत्तुंग दुर्गम पर्वत के बीचों-

बीच कछनी की भाँति जा रही थी। दाँयी ओर सैकड़ों फीट की गहराई में चट्टानों और वृहत्ताकार शिलाओं के ऊपर अविराम गर्जन करती हुई अलकनन्दा की फेनिल धारा भागी जा रही थी, और दूसरी ओर पर्वत की असीम ऊँचाई पर से लुढ़कती ई छोटी-बड़ी गल-गल कर आने वाले हिम की धारियाँ कहीं सड़क के ऊपर और कहीं 'नालियों' के नीचे से द्रुत वेग से उसी गहराई की ओर दौड़ रही थीं। सारे पहाड़ के विशाल विस्तार पर केवल इस सड़क के और कोई भी स्थान न था, जहाँ पर मनुष्य ने पदार्पण किया हो। नदी के उस पार तो पर्वत अपनी पुरातन स्वच्छन्दता का युगों से उपभोग कर रहा था। वहाँ न कभी कोई सड़क बनी थी और न कोई पद-चिन्ह ही था। मानव-जाति की लोलुप दृष्टि केवल जा कर वहाँ यदा-कदा टिक गई होगी, और उसे अपनी असमर्थता पर अवश्य दुःख हुआ होगा, कि इस पहाड़ पर उसका प्रभुत्व न हो सका ; क्योंकि बहुमूल्य पहाड़ी बेंत के हरे जंगल अलकनन्दा के किनारे से ही पहाड़ की आधी ऊँचाई तक उसे हरिताम्बर-सा पहनाये हुए थे। सुगन्धमय देवदारु, सनोवर, सुरई, फर और बर्फानी भोज-पत्र के बाँस की तरह सीधे वृक्ष, जिनको आधुनिक वनस्पतिशास्त्र-वेत्ता न तो अब तक प्राप्त ही कर सके हैं, और न कोई नाम ही दे सके हैं, वहाँ पर अनगिनत संख्या में पैदा होते हैं, अपनी सहस्त्रों वर्षों की पूर्ण आयु को समाप्त कर सूखते हैं, और फिर स्वेच्छा से अनेक सहस्त्र वर्ष में धराशयी हो कर गंगा में समाधि ले लेते हैं। मनुष्य के पाद-स्पर्श से न तो उस पर की घास ही कभी कलुषित हुई है, न वे रंब-विरंगे पुष्प, जिहें स्वयं नगाधिराज ने मानो शीत हिम-समीर की सहायता से गंगार्पण करने के हेतु अछूता रक्खा हो।

पर्वत की एक और धारा पार कर के जो दृश्य सम्मुख आ उपस्थित हुआ, वहऔर भी चित्ताकर्षक था। पहाड़ की सारी ऊँचाई मानो भिन्न-भिन्न वर्ण के वस्त्रों से आच्छादित थी। ठीक अलकनन्दा के किनारे कुछ ऊँचाई तक देवदारु और सुरई के त्रिभुजकार कोण के आकार के घने जंगलों का एक बड़ा उद्यान-सा एक सीधी लकीर पर जा कर, जो नदी के समानान्तर चली गई थी, समाप्त

हो गया। उसके ऊपर फिर एक ओर हरी-हरी झाड़ियाँ, बेंत के कुंजों का समुदाय, पर्वत की ठीक आधी ऊँचाई तक उसकी मंडलाकार सारी परिधि को आच्छादित किये था। इससे भी ऊपर पर्वत के स्कन्धों तक लाल घास का आवरण था, फिर काली-काली चट्टानें थीं, और उनसे भी ऊपर ठीक सिर के ऊपर दृष्टि उठाने पर हिमाच्छादित श्वेत शिखर थे, जो धूप से तप्त हिम पर उठते हुए वाष्प-कणों के कारण इन्द्र-धनुष के-से रंगों से रंजित कभी उज्वल नील वर्ण के लगते थे, तो कभी सोने के रंग से धुले हुए और कभी आग से दीप्तिमान लाल-लाल लपटों-से। एक के उपरान्त दूसरा पर्वत का आवरण इस प्रकार एक-दूसरे की ठीक सीव में चला गया था, कि प्रकृति की इस चित्रकारी को देख कर एक टक देखते रहने की इच्छा होती थी। नग्न-चट्टानों के बीच से पानी का एक उज्ज्वल स्रोत आ कर सारे पर्वत की लम्बाई को पार कर नीचे सहस्त्रों फ़ीट गहरी अलकनन्दा में गिर रहा था। उस झरने की हवा में छिटकी हुई बूँदें, नदी के इस पार तैरती हुई आ रही थीं, और सारी सड़क इस छिड़काव से भीगी हुई थी।

साथी ने कहा—"बिजली की कम्पनी के इन्जीनियर ने इस झरने को देख कर कहा था कि अगर केदारनाथ के पण्डे और सरकार आधा खर्च दे दे, तो इससे बिजली पैदा कर के केदारनाथ-धाम तक ले चलें।"

जोशी इस प्राकृतिक सौंदर्य को देख कर ऐसा मुग्ध-सा हुआ कि उसने साथी की इस अप्रासंगिक बात पर ध्यान भी न दिया। कहा—"आह, कितना सुन्दर दृश्य है! आओ, यहाँ पर कुछ देर बैठ जायें।"

एक ओर पर्वत से गिरने वाले निर्झर की धारा और दूसरी समकोण पर आती हुई द्रुतगामी अलकनन्दा, दोनों के सम्मेलन का प्रचण्ड वज्रघोष, उस सारी घाटी के वृक्षों को कम्पायमान कर रहा था। उसी स्थान पर बादल का एक छोटा-सा टुकड़ा, मानो इस चिर पुनीत और चिर नवीन सम्मेलन का आवरण-सा तैर रहा था, जो एकाएक हवा के झोंके से निर्झर के मार्ग-परिवर्त्तन के कारण कभी टूट कर दो-तीन टुकड़ों में बंट जाता था, और फिर सहसा जुड़ कर

एक हो जाता था। जोशी देर तक नदी, निर्झर, पर्वत और बादल की यह क्रीड़ा देखता रहा। बेंत की कई लतायें अपना स्वाभाविक अर्द्धमुखी मार्ग छोड़ कर इस प्रपात के साथ नतोमुख हो कर नदी तक चली आई थीं। क्षण-क्षण हवा के झोंकों से झरने का मार्ग बदल जाने से, उनके अंग चट्टानों से टकरा कर चपटे हो गये थे। प्रकृति की यह अभूतपूर्व गहन-घोर गर्जना ने जोशी के कानों में गूंज कर उसके तमाम स्नायुओं को आलोड़ित कर उसके शरीर में भी एक अद्भुत घरघराहट उत्पन्न कर दी। उसे ऐसा भास हुआ कि मानो उसका सारा स्थूल शरीर इस घरघराहट में चूर्ण हो कर केवल शब्दमय रह गया। देर तक वह लताओं को, दोनों तीव्र धाराओं को, और उसके वाष्पमय उस सम्मेलन को, और वहाँ पर दौड़ कर उड़ने वाली लाल-पीली चहचहाती हुई पहाड़ी चिड़ियों को, जो एकाएक भाग कर आतीं और उस झरनों के चारों ओर फैले वाष्पकणों की धुंध में क्षण भर टिक कर फिर चहचहाती उड़ जातीं, देखता रहा। कुछ इस एक टक देखने से और कुछ उस शीत वाष्प से, जो इस ओर भी अदृश्य रूप में आ कर अपनी अविराम क्रीड़ा करना न चूक रही थीं, जोशी की आँखों में आँसू भर आये। यह सारा दृश्य, गंगा का निर्झर-मिश्रित यह प्रवाह बाढ़ की तरह, जीवन और मृत्यु को लाँघ जाने वाली, उस तरंग-सा उसे ज्ञात हुआ, जिसमें बह कर न कुछ संचय की अभिलाषा रहती है और न कुछ खो देने का पश्चात्ताप। सुख की इस अनुभूति में लग्न वह एक दम परम आनन्द से निःशेष हो गया। सोचने लगा उस साधु की बात को जिसने तपोवन में, ऋषिकेश से दो मील और ऊपर, उसे दीक्षा दी थी। उस दीक्षा को उसने उस समय कौतूहलपूर्ण उपहास में स्वीकार किया था, पर अब वही उसे सच जान पड़ी और सब मिथ्या। उसने कहा था--'प्रकृति अविनाशमय अनन्त है, उसे 'सत्' कहते हैं। जीव प्रकृति के गुण रखता हुआ भी चैतन्य है, उसे 'सत् चित्' कहते हैं, और ईश्वर प्रकृति और जीव दोनों के गुणों से युक्त एक और भी गुण रखता है, वह है 'आनन्द'। इसीलिये उसे 'सच्चिदानन्द' कहा गया है।' वह सोचने लगा, "आह! यही आनन्द जीवन का लक्ष्य है। इसी आनन्द की अनुभूति में शङ्करा-

चार्य ने शायद ऐसे ही आनन्दपूर्ण स्थान में अपने को गंगा के अर्पण किया होगा। और मैं ऐसे पावन स्थान में आकर ऐसा मिथ्या जीवन व्यतीत कर रहा हूँ। इस आनन्द को, प्रकृति के इस अलक्ष्य सौंदर्य को, मानो मैं सच्चे हृदय से ग्रहण भी नहीं कर रहा हूँ क्योंकि 'जो कुछ मैं हूँ वह और कोई जान न पावें' ऐसी भावना से एक मिथ्यावरण मुझे सदा पाप की कालिमा से घेरे रहता है। इसकी अवधि नहीं। न जाने कब तक मुझे इसी प्रकार कालिमा के अन्दर ऐसा कलुषित जीवन बिताना पड़ेगा। उस अदृश्य अवधि तक जहाँ दूर दृष्टि भी नहीं जाती, सब शून्य है। किसी से मेरा किसी दिन भी सच्चा प्रयोजन न होगा, कुछ भी मेरा किसी के काम न आयगा।'

उसे अपने छद्म वेश की व्यर्थता स्पष्टता से अधिक व्यक्त जान पड़ी। अब तक वह एक थके बालक की भाँति सारी योजना के अन्त की आशा में था कि कब मेरी मजदूरी का कठिन दिन समाप्त हो, कब शाम हो और कब मैं शान्त चित्त से किनारे की ओर जाकर अनन्त रात्रि की सुखमय नींद की आशा में बैठा रहूँ। पर अब मानो सब समाप्त हो गया। एक अविरल इच्छा का ध्यान-मात्र ही अब उसकी स्थिति बन गई और स्थिर शरीर के अन्तराल में सत्य की ही पवित्र ज्योति को जीवित रखने के लिये ही आत्मा पात्र-मात्र रह गई।

आँसुओं से डबडबाती आँखों के सामने अब सब धुंध हो गया। उसने फिर सोचा—'जोशी फिर तू इस बात का दम्भ करता है कि जेल से बच कर आने में, और अब इस कलुषित जीवन और इस यायावर वृत्ति में तैने झूठ का आश्रय नहीं लिया। यह तेरा मिथ्या अभिमान है कि तू सच ही बोल कर छूटा और सच ही बोल कर अब तक मुक्त है। जेल के फाटक पर अवश्य तूने कहा था कि तू दिवाकर को छुड़ाने गया था, और हरद्वार में भी उस रेल के थानेदार से तूने अपना व्यक्तित्व नहीं छिपाया। पर जब तेरा सारा, अब तक का जीवन ही मिथ्या पर अवलम्बित है तो उसमें सत्य को स्थान ही कहाँ ? सारी क्रियाएँ, जब एक इस सत्य को छिपाने के लिये कि तू अभियुक्त है और जेल से भाग कर आया है, हुई हैं, तो फिर सच बोलने का दम्भ तू करता ही क्यों है ?'

दुपट्टे से उसने अपना सारा चेहरा पोंछा और थकी हुई आँखों को निर्झर से हटा कर सिपाही की ओर देख कर कहा—"लो, मैं हूँ वह दिवाकर चिन्तामणि, कांग्रेसी अभियुक्त, जिसके लिए पन्द्रह सौ रुपये का पुरस्कार सरकार ने घोषित किया है। तुम अब चाहो तो मुझे ऐसे ही गिरफ्तार कर लो। अगर तुम्हें डर हो कि अकेले निर्जन पहाड़ पर सड़क से ढकेल कर मैं तुम्हें अलकनन्दा में गिरा दूंगा, तो इसी शिला से मुझे तुम्हीं नीचे गिरा दो। तब तुम अपने साथियों की सहायता से इस मृत शरीर को भी ले जा सकते हो और पुरस्कार पाकर अपना दुःख निवारण कर सकते हो।"

सिपाही निर्वाक कित्तव्य विमूढ़-सा खड़ा रहा, फिर क्षीण स्वर में उसने कहा—"चलो, लौट चलें।"

जली चिट्ठी

वह स्टोव जला रहा था। चाय की तैयारी थी। मैं मेज पर पड़े 'लीडर' को देख रहा था। बंबाहादुर आया और बोला—"बाबू चिट्ठी"। उसने लपक कर उस नीले लिफाफे को पकड़ लिया। लिफाफे के दाँयें और नीचे कोने पर सुन्दर अक्षरों में लिखा था—

पं० गिरीशदत्त जोशी, एम० ए० (फाइनल)
१४०, झा होस्टल, यूनिवर्सिटी,
प्रयाग।

उसने मेरी ओर देख कर कहा—"लो मैं इसे बिना पढ़े जला देता हूँ।" और उसी क्षण उसने जलते हुए स्टोव से उस नीले लिफाफे को भस्म कर दिया।

गिरीश और मैं एक ही कमरे में रहते थे। वह मुझसे एक वर्ष आगे था, और सदा कक्षा में प्रथम रहता था। सौम्यता और सरलता की तो वह साक्षात मूर्ति था। मैंने होस्टल में इसीलिए उसका साथ दिया था, कि वह मेरे लिए एक आदर्श हो। मैं एक प्रकार से उससे डरता और उसका सत्कार करता था। उसके साथ बैठे हुए हमें कभी अश्लील बातों पर हँसने का साहस न होता था। जब कभी ऐसा अवसर आ जाता, तो उसके मुंह पर गम्भीरता झलकती रहती थी। या वह उठ कर बाहर चल देता, अथवा किसी पुस्तक के पन्ने उलटने लगता। मैं उसे सच्चरित्रता व सदाचार का आदर्श समझता था, और जब कभी माथुर कमरे में आकर अपनी प्रेमिकाओं की कहानियाँ सुनाने लगता, या कोई ऐसा ही राग अलापने लगता, तो मुझे कहना पड़ता—"भाई, जोशी जी के सम्मुख इतने निर्लज्ज न बनो।"

गिरीश में एक और विचित्र बात थी। वह कभी-कभी पढ़ते-पढ़ते चुप हो जाता, उसकी आँखें स्थिर हो जातीं, और वह न जाने क्या-क्या सोचने लगता। एक बार वह इसी प्रकार ध्यानावस्थित था। नौकर ने आकर मेज पर खाना रक्खा और कहा—"बाबू जी, खाना ले आया।" पर उसने नहीं सुना, नौकर ने फिर कहा—"बाबू खाना", पर उसने फिर भी नहीं सुना। तब मैंने हाथ पकड़ कर कहा—"जोशी, खाना खा लीजिये।" और तब उसकी तंद्रा भंग हुई।

एक दिन की और बात है, मैं उसे अपनी यात्रा के विषय में कुछ सुना रहा था। जब मैं सब सुना चुका, तो विदित हुआ, कि उसने कुछ भी नहीं सुना, सचमुच वह मेरी ओर देखता रहा, मानों मैं एक पारदर्शक काँच हूँ, और वह बीचो-बीच खिड़की से बाहर देख सकता हो। मुझे बड़ा आश्चर्य होता था, कि गिरीश इस प्रकार ध्यानावस्थित हो, क्या सोचता रहता है। पर मैं उसे उसका अलौकिक गुण समझता था। हाँ, तो उस दिन उसने पत्र को बिना पढ़े जला दिया। वह लिफ़ाफ़ा कोई विज्ञापन-पत्र या सूचीपत्र नहीं था। मैं अपने पत्रों को कम से कम दो बार अवश्य पढ़ता था, और फिर सँभाल कर रख देता था। लेकिन जोशी की इस बात को देख कर मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा। गिरीश अपनी कोई बात मुझसे छिपा कर न रखता था। मैंने सोचा, आज भी मुझे स्वयं उस पत्र के विषय में बतला देगा, कि वह कहाँ से आया, और क्यों उसने उसे बिना पढ़े जला दिया। पर दो दिन बीत गये, उसने मुझे कुछ भी नहीं बतलाया। मेरा कौतूहल दिनों-दिन बढ़ने लगा। मैं गिरीश की प्रत्येक बात को ध्यान से अध्ययन करने लगा। दूसरे दिन वह कालेज से देर में लौटा। मैंने उसका सूटकेस खोल कर देखा, पर थोड़े से कपड़ों, प्रशंसा-पत्रों और सर्टिफिकेटों के अतिरिक्त वहाँ कुछ न था। बहुत सोचने के पश्चात्, मैं इसी परिणाम पर पहुँचा, कि गिरीश के उस आकस्मिक ध्यानावस्था और इस पत्र में अवश्य कुछ-न-कुछ सम्बन्ध है। हो-न-हो, यह पत्र उसकी किसी प्रेमिका से आया है, तभी उसने उसके विषय में कुछ भी नहीं बतलाया। अन्यथा ऐसी कोई बात नहीं हो सकती, जो मेरे जानने योग्य न हो।

\+ + +

एक मास बीत गया। वही शाम के चार बजे का समय था। गिरीश कालेज से न लौटा था। मैं चाय बना रहा था। बंबहादुर ने पत्र दिया। पत्र गिरीश का था और उसी प्रकार का नीला लिफ़ाफ़ा। नीचे दाँये कोने पर उसी प्रकार लिखा था। मैंने एक दम उसे, खूंटी पर टँगे, अपने कोट की जेब में डाल दिया। थोड़ी देर में गिरीश आ गया, मैंने उसे पत्र नहीं दिया, कि कहीं फिर उसी दिन की तरह भस्म न कर दे। कपड़े पहन कर मैंने बाहर जाते हुए कहा—"जोशी जी, मुझे आज डाक्टर तिवारी के पास जाना है।"

उसने कुछ नहीं कहा, शायद वह उसी प्रकार ध्यानावस्थित था। दो-तीन मील दूर जा कर मैंने जेब में हाथ डाला। पर पत्र न था। मैं बड़े असमंजस में पड़ा, बड़ा दुःख हुआ। हताश होकर मैं सड़क के किनारे लगी बेंच पर बैठ गया। मैंने जल्दी में लिफ़ाफे को गिरीश के कोट की जेब में डाल दिया था। मुझे अपने ही ऊपर क्रोध और हँसी आने लगी। पर सहसा मुझे विचार आया, गिरीश ने अभी अपने कोट की जेब में नहीं देखा होगा। मैं लौट पड़ा। जल्दी-जल्दी होस्टल आया। पर देखा, कमरा बन्द है, न गिरीश का पता, और न उसके कोट का। मैं फिर घूमने निकला, मार्ग में गिरीश मिल गया। मैंने कहा—"जोशी जी आपका पत्र आया था, मैंने आपके कोट की जेब में डाल दिया था।"

उसने कहा—"हाँ, मुझे मिल गया।" मानो, वह कुछ भी उत्सुक न था। मैं उस पत्र के विषय में पूछने को ही था, कि उसने बात बदल दी। वह नेहरू की आत्मकथा में से अनेक बातें सुनाने लगा। मैंने भी व्यर्थ उसे दुःखित करना उचित न समझा।

अब गिरीश मेरे लिए एक पहेली था। मैं उसकी एक-एक बात का अध्ययन करने लगा। मेरी शंका और कौतूहल दिन-दिन बढ़ने लगे। उसकी अनुपस्थिति में मैं उसकी तमाम पुस्तकें छान डालता, पर इधर उधर नीली और लाल पेंसिल की रेखाओं के अतिरिक्त मुझे कोई भी ऐसी सामग्री न मिलती, जिससे मैं उसके विषय में कुछ अधिक जान सकूं। एक दिन मैं उसके उन्हीं दो पत्रों की बाबत सोच रहा था, कि सहसा मुझे एक नयी बात ज्ञात हुई। पहला पत्र तेरह

तारीख को आया था, और दूसरा भी दूसरे महीने की ठीक तेरह तारीख को। मैं अब दिन गिनने लगा। ग्यारह तारीख से ही मैंने प्रातःकाल आठ बजे और सायंकाल चार बजे कमरे के बाहर आकर चक्कर लगाना शुरू किया, कि बंबहादुर आये, तो उससे पत्र ले लूं। बारह की शाम को बंबहादुर ने मेरे हाथ में एक लिफाफा दिया; पर वह मेरा ही पत्र था। मैंने अंदर जाकर खोला, और पढ़ने लगा। गिरीश ने कहा—"क्या मेरा भी कोई पत्र है?"

मैंने सिर हिला कर कहा—"नहीं।" पर मैं समझ गया, गिरीश जानता है, कि उसके पत्र कब आते हैं। और मुझे पूर्ण विश्वास हो गया, मेरा अनुमान बिलकुल ठीक है। बहुत से लड़के अपनी चिट्ठियों के लिये इतने उत्सुक रहते थे, कि जब बंबहादुर लेटर-बक्स खोलता, वहीं पर पहुँच जाते, और अपने-अपने नाम के पत्र ले आते।

दूसरे दिन मैं चाय बना कर बाहर निकला ही था, कि देखा, कुछ लड़के लेटर-बक्स के पास बंबहादुर को घेरे खड़े थे। मैं भी वहीं पहुँच गया। उसने कहा—"दूसरे बाबू की है।" मैंने 'लाओ' कहते हुए झपट कर, उस लिफाफे को अपनी जेब में डाल लिया। जल्दी में मैंने यह भी नहीं देखा, वह नीला है या लाल, अथवा गिरीश का ही है या मेरा। दूसरे कमरे से मैं पूरन को बुला लाया। जब कभी पूरन और गिरीश में वाद-विवाद छिड़ता तो दो घंटे तक न रुकता, इसीलिये गिरीश को पत्र का ध्यान न रहे, इससे मैंने भारत की प्राचीन सभ्यता पर कुछ बात छेड़ दी। बस, यह काफ़ी था। वे दोनों अपनी-अपनी दलीलें देकर ऐसे लड़ने लगे, कि दो-चार लड़के और जुट गये। मैं अपनी विजय पर मन-ही-मन हँसता, कमरे से बाहर निकल आया और घूमने निकल गया। मैं सोच रहा था, 'आज गिरीश की सच्चरित्रता का पूरा भेद मालूम हो जायगा।' निकाल कर देखा, वही नीला लिफ़ाफ़ा, उसी प्रकार नीचे दायें कोने पर गिरीश का पता अंकित था। उन दिनों मैं हस्तलिपि-बोध पर अपने प्रोफेसर शास्त्री की पुस्तकें पढ़ रहा था। अक्षरों के झुकाव को देख कर मुझे पूर्ण विश्वास हो गया, कि पत्र किसी लड़की के ही हाथ का लिखा है। खैर, मैंने पते पर विशेष ध्यान नहीं दिया। पेंसिल

घुमा कर, लिफाफा खोला, पर पत्र पढ़ते-पढ़ते मारे भय के मैं काँपने लगा। पत्र इस प्रकार था :

न्ति कुटीर, कलकत्ता
१०-९-३३

महोदय,

आपको परिषद ने एक मास पूर्व कलकत्ते में होने वाली अपनी अंतरंग सभा में बुलाया था, और उससे भी पहले नागपुर में अमुक राजकीय सभा में अन्य सदस्यों के साथ मिल कर कुछ काम करने को लिखा था; किन्तु आपने मंडल की उपर्युक्त दोनों आज्ञाओं का उल्लंघन किया। यह अपराध अक्षम्य है। यदि एक सप्ताह के अन्दर आप इस आज्ञा की अवहेलना का समुचित कारण न भेज सकेंगे, तो मंडल आपको 'उचित दंड' देगा।

विनीत—

मंत्री।

काँपते हाथों से मैंने पत्र को बन्द किया। 'गिरीश क्रान्तिकारी-दल का एक सदस्य है!'—इस विचार से मेरी नस-नस में डर ज्वर की भाँति समा गया। एक 'इक्के' में बैठ मैं होस्टल पहुँचा। गिरीश कमरे में बैठा कुछ पढ़ रहा था। मुझे देखते ही वह कुछ हँस-सा पड़ा, पर उस हँसी में मुझे एक अपूर्व व्यंग-सा दिखलाई दिया। मैंने समझा गिरीश पत्र के न मिलने से बहुत उदास होगा, किन्तु वह आज मुझसे कम उदास था, हाँ ध्यानावस्थित अवश्य कुछ अधिक दिखलाई दे रहा था। शाम को मुझसे कुछ भी नहीं खाया गया, पर गिरीश ने खूब डट कर भोजन किया। दशहरे की छुट्टियाँ अभी एक सप्ताह पश्चात् थीं। पर मैंने प्रातःकाल घर को चल देने की ठानी। रात भर मुझे नींद नहीं आयी। दूसरे दिन प्रातःकाल मैं घर को चल दिया, गिरीश मुझे स्टेशन तक पहुँचाने आया। मुझे डर था कि यदि कहीं पूछ बैठे, 'क्यों इतनी जल्दी चले जा रहे हो?' तो क्या उत्तर दूंगा। पर सौभाग्यवश उसने कुछ भी नहीं पूछा, और मैंने नजर बचा कर उसके मुंह की ओर देखा। उसके मुंह पर वही क्रान्तिकारी, भयानक, मन्द-मुस-

कान थी। लखनऊ जाकर मैंने फिर उस नीले लिफ़ाफ़े को निकाला। लिफ़ाफ़ा कुछ फट गया था, इसलिये मैंने उस पत्र को एक नये लिफ़ाफ़े में वन्द कर के गिरीश के पते पर भेज दिया। उस पुराने लिफ़ाफ़े को डर के मारे, कि कहीं गिर जाये, तो कोई अभी पकड़ न ले—फिर उसी प्रकार कोट की जेब में डाल दिया।

लगभग एक सप्ताह बाद घर पर मुझे एक पत्र मिला। ठीक उसी प्रकार का नीला लिफ़ाफ़ा था। मेरा पता भी उसी प्रकार कोने पर लिखा था। मारे भय के मैं काँपने लगा। हाय क्रान्तिकारियों ने मुझे भी पकड़ लिया! काँपते हुए हाथों से मैंने पत्र खोला। पढ़ने का साहस न होता था। खोल कर पढ़ा तो मेरा भय व्यर्थ निकला। पत्र गिरीश का भेजा था। पर उन दोनों लिफाफों की समानता से मैं दंग रह गया। मैंने उस पुराने खाली लिफ़ाफे को सामने रक्खा। दोनों में बिलकुल एक से अक्षर थे, वही चिर-परिचित गिरीश का लिखा हुआ पता दोनों पर था। मेरी नज़र पोस्ट ऑफ़िस की मुहरों पर गई। दोनों टिकटों पर इलाहाबाद यूनिवर्सिटी पोस्ट ऑफ़िस की छाप थी। मैंने उस पुराने लिफाफे की खूब देख-भाल की, पर उसमें कलकत्ते की मुहर ही न थी। मुझे चट सब बातें समझ में आ गईं। गिरीश की उस दिन की हँसी का अर्थ मैं अब समझ गया। मुझे अपनी मूर्खता पर हँसी आ रही थी, पर प्रसन्नता इस बात की थी, कि मैं क्रान्तिकारियों के हाथ में नहीं हूँ। यद्यपि उस दिन मेरी पत्र लेने की उत्सुकता को देख कर गिरीश ने अपने ही हाथों से पत्र लिख कर मुझे इतना भयभीत किया था। पर फिर गिरीश को यह बतलाना, कि मैं उसी पत्र के कारण होस्टल से भाग आया था, मैंने उचित न समझा।

पराजय

तिब्बत के किनारे हिन्दुस्तान की सीमा के अन्तिम गाँवों में एक गाँव का नाम उरगम है, नीची घाटी से आने वाली धौली गंगा उस गाँव के किनारे बहती है। अन्य पार्वत्य स्थानों से बहुत दूर, पर्वत की निर्जन कन्दराओं में, विशाल पर्वत-श्रेणियों के चरणों में वह गाँव बसा है। वह और इसके समीप के अन्य गाँव ऐसे हैं, जहाँ हिमालय के इस ओर रहने वाले मानव, वर्ष भर रह सकते हैं। इससे थोड़ी ही दूर, उत्तर में बदरीनाथ धाम है। वहाँ जाड़े में मनुष्य नहीं रह पाते, इसीलिए इन्हीं गाँवों के निकट पर्वत की अँधेरी घाटियों में चले आते हैं। इन्हीं घाटियों से 'गढ़वाल राइफ़िल्स' के बहुतेरे रंगरूट भर्ती किये जाते हैं।

द्वितीय महासमर में उरगम से जो तीन व्यक्ति सेना में भर्ती हुए थे, वे थे पत्तू, शेरू और दानू। उरगम बारु लोगों का गाँव है। वे अछूत समझे जाते हैं। इसलिए उनके नाम भी छोटे ही होते हैं। सेना में भर्ती होने पर पत्तू रिक्रूटिंग अफ़सर के परामर्श से पीटर बन गया। शेरू ने अपना नाम शेरउड लिखवाया। दानू डैनियल हो जाता, पर उसे अपने माता-पिता का दिया वही छोटा-सा नाम प्रिय था, इसलिए वह दानू ही रहा। लड़ाई में पीटर मर गया। उसे ट्रेनिंग सेंटर में ही लू लग गयी थी। शेरउड बर्मा को लड़ाई में काम आया। दानू मिस्र, योरप मलाया और बर्मा में लड़ा। चार ही वर्ष में अनपढ़ होते हुए भी वह नायक बन गया। पर उरगम के उन सिपाहियों के भाग्य शायद अच्छे न थे। वह भी बुरी तरह घायल हुआ, और दोनों पाँव बेकार हो गये। कई महीने अस्पताल में पड़ा रहा। फिर उसके दोनों पाँव काट दिये गये। घावों के अच्छे होने पर, उसे पीले के सहारे चलना सिखलाया गया।

साढ़े पाँच वर्ष पलटन में बिता आधी दुनिया का पर्यटन करके, इस प्रकार लुञ्ज होकर, वह कल ही शाम को लौटा था। आते ही कुलियों की मजदूरी, जिनकी पीठ पर सवार होकर वह रेल के अन्तिम स्टेशन से इतनी दूर चल कर आया था, चुका कर, उसके पास जो कुछ बचा था, उसने अपने बूढ़े बाप को दे दिया था। वह केवल पचीस रुपया था।

कुटुम्ब में बाप, बेटे के अतिरिक्त और कोई न था। पर बाप के पास भी वह रुपया कुछ ही घंटों रहा। अगली सुबह को पटवारी ने आकर, लगान माँगा। कई किस्तें बाकी रह गयी थीं। बूढ़े ने सब-का-सब रुपया पटवारी के सम्मुख रख दिया। केवल पाँच रुपये का एक नोट पटवारी ने बूढ़े को लौटाया। कहा—"यह पाँच तुम ज्यादा दे रहे हो!"

यह उस भूमि का लगान था, जिसका अब अस्तित्व ही न था। उस भूमि पर अब धौली वृहदाकार शिलाओं से उतर, अपना कलकल संगीत सुनाती हुई, कंकड़ों से खेलती थी। बूढ़े ने प्रति वर्ष इस जमीन का लगान देने में आनाकानी की थी। वह लगान तो अन्त में दे ही देता था, पर पटवारी को यह बात अच्छी प्रकार जता देता था, कि जो खेत अब रहे ही नहीं, उनका लगान वसूल करना जनता पर जुल्म करना है। वैसे वह स्वयं जानता था, कि ऐसे तर्क से काम न चलेगा। जब तक जमीन की नयी पैदाइश न होगी। तीस वर्ष की अवधि तक (पैमाइश प्रति तीसवें वर्ष होती थी), बराबर लगान देना पड़ेगा। सरकार ने पहाड़ी प्रदेशों के लिए नियम ही ऐसा बना रक्खा है।

आज लड़के के लौट आने पर बूढ़े ने लगान देने में कुछ भी हीला-हवाला नहीं किया। उसे उसके लौटने की आशा ही न थी। शेरू और पत्तू के मरने के समाचार गाँव में कई मास पहिले ही पहुँच गए थे। उसके लड़के के पाँव काट दिये गये हैं, यह भी उसने सुना था। पर बिना पाँवों के भी उसका लड़का एक दिन वापिस आ जायगा, यह बात उसकी कल्पना से परे थी, पलटन के अफ़सर दानू को किसी शिक्षण-केन्द्र में भेज कर कपड़े बुनने का काम सिखलाना चाहते थे। पर उसे यह स्वीकार न था। वह बार-बार कहता रहा, कि उसके गाँव में टोकरियाँ

बनाने का काम होता है, जिसे वह अपने पंगु होने पर भी आसानी से कर सकता है। सो उसके आग्रह के कारण उसे छुट्टी मिल गयी।

तब दानू ने इतने वर्षों बाद अपने घर को प्रस्थान किया। घर तक पहुँचना भी उस पंगु सैनिक के लिए आसान न था। रेल के अन्तिम स्टेशन से केवल दस मील मोटर सड़क थी, और उसके उपरान्त डेढ़ सौ मील दूर उरगम नाम का वह पहाड़ी गाँव था। पैदल या घोड़े पर इतनी दूर चलना सम्भव न था। उसके लिए तो एकमात्र सवारी थी। वह कुर्सी की भाँति की पहाड़ी पालकी, जिसे उस प्रदेश में डाँडी कहते हैं। दस दिन लगातार दो कुलियों के कंधों पर डाँडी पर यात्रा करके, उस दिन वह अपने घर पहुँचा। एक तीसरा कुली उसके कम्बल और बरान कोट आदि लेकर डाँडी के साथ-साथ आया। गाँव में इस अनोखी सवारी के आने पर, लोगों की भीड़ जमा हो गई। दानू का बाप भी डरा हुआ-सा किसी सरकारी कर्मचारी के आगमन की आशंका से हाथ जोड़ कर खड़ा हो गया।

"पिता जी, मैं हूँ, आपका बेटा, दानू!" पंगु सैनिक ने ठेठ गढ़वाली में कहा।

तब बूढ़े की कमर सीधी हो गयी और आँखें चमक उठीं, तत्परता से अपने दोनों हाथों से उस युवा बेटे की ठुड्डी और माथे का स्पर्श किया। बोला—"आ गये, बेटा! मेरे बड़े भाग्य हैं!"

तीसरे कुली ने पौले बढ़ा दिये, और दानू उन्हीं के बल डाँडी से उतरा। उन दोनों पौलों के सहारे घिसटते हुए उसके उस आधे शरीर को देखकर बूढ़ा रो पड़ा। दानू की आँखें भी आर्द्र हो गयीं। पर अपने वीर हृदय के रोदन को पौरुष और शुष्क मुस्कान से दबा कर, वह उस वाक्य को दोहराने लगा, पिता को सान्त्वना देने के लिए, जिसकी रचना उसने कई दिन पहिले मार्ग में कर ली थी—"आपके पुण्य-प्रताप से मैं तो, पिताजी, आपके दर्शन करने लौट आया। इसी गाँव के और दो वारुड़ियों का इस समय ध्यान कीजिए। वे दोनों मेरे ही साथ गये थे, पर अपने जन्म-स्थान का फिर दर्शन न कर सके। मैं लौट आया, यही क्या कम सौभाग्य की बात है? मेरी पेंशन के पैंतीस रुपये हर महीने हम दोनों के लिए

काफी होंगे। फिर हमारा पैत्रिक व्यवसाय भी है। टोकरियाँ मैं अब भी आसानी से बना सकता हूँ।"

वृद्ध ने कुछ न कहा। वह अपनी फटी कमीज के छोर से केवल आँसू पोंछता रहा।

मकान के अंदर प्रवेश करके, दानू ने एक बार गोबर से पुती उन दो बड़ी डेह-रियों को छू कर देख लिया। उनमें एक में धान और दूसरे में गेहूँ भरा रहता था। यह जान कर उसे प्रसन्नता हुई, कि डेहरियाँ भारी हैं, सो अवश्य भरी हुई होंगी। फिर खिसकता हुआ वह हाथों के बल दीवार पर खड़ा हुआ। छप्पर से लगे हुए उस तख्ते पर उसने देख लिया, कि टोकरी बनाने का सब सामान, दराँती, गँड़ासा, कुल्हाड़ी यथा-स्थान सुरक्षित हैं। वर्षों पहिले घुटनों के बल जब वह अपने बाल्यकाल में चलता था, तब की पुरानी, धुंधली-सी स्मृति जाग उठी। उसे ऐसा भास हुआ, मानो वह मृत्यु भुगत कर, अब फिर बालक हो गया है। पैरों की ओर देख कर वह सोचने लगा, 'इनकी मुझे विशेष आवश्यकता नहीं। मैं हाथों के बल, इन जाँघों के ठूंठों के सहारे कोठरी के अन्दर और बाहर रेंगता चलूंगा। बाल्यकाल का-सा सरल और भोला मेरा जीवन होगा। न किसी से द्वेष, न किसी से झगड़ा।'

बाहर आकर, डाँडी का किराया और तीनों कुलियों की इतने दिन की मजदूरी, सब दे चुकने पर, उसने देखा तो केवल पचीस रुपये बचे थे। वह उसने अपने पिता को सौंप दिये। मन-ही-मन सोचा, 'बालक को रुपये से क्या प्रयोजन, पिता जी के पास खाने-पीने को है ही। पहिनने को जो कपड़े लाया हूँ, वह हम दोनों साल भर पहिन लेंगे। तब तक चार सौ रुपये पेंशन मिल जायगी।'

(२)

दानू ने जब सुना, कि पटवारी को चार किस्तों का लगान देकर, केवल पाँच रुपये शेष हैं, तो उसे याद आया, कि इतने ही रुपये लेकर वह भर्ती होने छावनी की ओर चला था। मन में पटवारी द्वारा उस कर के वसूल कर लिए जाने

पर उसे क्षोभ-सा हुआ, जैसा कि रुपयों के खो जाने पर बहुधा हो जाता है। पर वह अपने पिता से कहने लगा—"जाने भी दो, पिताजी। वह मेरे उसी दुःखी जीवन की कमाई थी, जिसका अब अन्त हो गया। वही पाँच रुपये शेष रहे, जो आपके थे, और जिन्हें लेकर मैं गया था।"

अब दिन-प्रति-दिन आँगन के किनारे दानू की बनाई टोकरियों की मीनार ऊँची होने लगी। अपनी खाकी पतलून की लम्बी, लटकती दोनों बाँहों को वह एक-एक फंदा लगा कर बाँध देता। दोनों ठूंठ तब बँधी हुई लम्बी-लम्बी थैलियाँ से दीखते। कभी वह कुहनियों के बल शरीर को झूला-सा बना उछाल-सी मार कर दूर कूद जाता। गाँव के अन्य बच्चों के साथ कभी ठूंठों को मोड़ कर उन पर खड़ा हो जाता, और कहता—"आओ, भैया, देखो, तुम बड़े हो या मैं बड़ा हूँ?"

वे सब उसके आगे-पीछे खड़े हो जाते। कहते—"तुम हम सब से छोटे हो।"

"नहीं, नहीं!" फिर वह पंजों के बल खड़ा होकर लटकते ठूंठों को झूलने देता, और खूब ऊँचा होकर कहता—"मैं तुम सब का दद्दा हूँ, दद्दा!"

बच्चे कहते—"अच्छा, झूला बन जाओ, झूला।"

दोनों हाथों के बीच अपने पंगु शरीर को नचा कर, फिर वह एकाएक कूद कर, कभी पास के छप्पर की छत पर चढ़ जाता, और कभी आँगन में लगे अखरोट के पेड़ की डाल पर झूल जाता। लड़के आश्चर्य से तालियाँ बजाते, और पुकारते—"झूला दद्दा! झूला दद्दा!"

गाँव के बूढ़े और जवान उसके लिए पहाड़ी रिंगाला (बाँस की भाँति का पेड़, जो गढ़वाल-कुमाऊँ में होता है) काट लेते, और उससे लड़ाई की, जर्मनों, जापानियों, काले हब्शी लोगों और अपने हिन्दुस्तानी सिपाहियों की कहानियाँ सुनते। आस-पास के गाँवों में पढ़े-लिखे बारूड़ी बिरले ही थे। कोई पत्र पीयो

आ जाता, तो तीन मील दूर जंगल के पतरौल के पास उसे पढ़वाने को ले जाना पड़ता था।

उरगम गाँव बड़ा ही दुर्गम था। गाँव के किनारे धौली नाम की वह पहाड़ी नदी थी। उस पार दूसरे पहाड़ की चोटी पर जोशीमठ नामक साधुओं का मठ था, जहाँ दूकानें थीं, यात्रियों के लिये अस्पताल था, और मन्दिर के सदाव्रत से चलने वाली पाठशाला थी। देखने में जोशीमठ बिलकुल सामने था। कौए और चील तो पाँच ही मिनट में इस पार से उस पार चल देते थे, पर आदमियों को वहाँ जाने में पूरे तीन दिन लगते थे, और दो पहाड़ तथा तीन घाटियों को पार करना पड़ता था। धौली पर पुल न था। होता भी कैसे? गर्मियों में जब और सब पास के नाले सूख जाते, तब बर्फ के गल-गल कर आने से धौली में बाढ़ आ जाती थी। वर्षाकाल में वह गाँव के आँगनों को भी छूने लगती थी। तब महीनों तक वह गाँव शेष संसार से बिछुड़ जाता। दानू का पहला नाम धीरे-धीरे बिलकुल विस्मृत-सा हो गया। छोटे-बड़े, सभी उसे झूला ही कह कर पुकारने लगे।

युद्ध के विषय में उसकी कहानियाँ सुन कर, गाँव में औरतें और बच्चे भी जान गये, कि जर्मन और जापानी एक ओर हैं, और अँगरेज़ और अमेरिकन दूसरी ओर। दोनों में भयंकर लड़ाई छिड़ी हुई है। अँगरेजों को पूर्व में जापान के सिपाहियों ने हरा कर कैद कर रक्खा है। हजारों, लाखों तनख्वाह पाने वाले अफ़सर जापानियों की कैद में भूखों मर रहे हैं। उनका कागजी रुपया दीमक खा रहे हैं। जापानी उस रुपये को, अँगरेज के रुपये को, चलने ही नहीं देते। वे अपने अलग नोट छापते हैं। गाँव वाले यह भी जान गए, कि हार जाना बड़ा बुरा होता है। हारे हुए देशों को जर्मन और जापानी लूट लेते हैं। वहाँ के गाँव-के-गाँव नष्ट हो जाते हैं। औरतों और बच्चों को खाना और कपड़ा भी नहीं मिलता।

लोग यह भी शंकायें झूला के साथ-साथ मन-ही-मन करने लगे, 'शायद अँगरेज हार जायँ। शायद तब वे शिकार को आने वाले, कस्तूरी मृग और सुनहले हिवाल का शिकार करने वाले "कर्नल", "लेफ्टन" और "कलक्टर" इस ओर

न आयेंगे। तब जापान के पीले, चौड़े मुंह वाले, लम्बे-चौड़े जबड़े वाले, लामा-जैसे लोग शायद इन गाँवों की ओर शिकार करेंगे। लगान वसूल करने वाला पटवारी उन्हीं के पास सलामी देने जायगा। चोरी करने वालों को वे ही सजा देंगे। पलटनों में रंगरूट वे ही भर्ती करेंगे।' झूला का बाप भी उनके साथ-साथ सोचता, 'तब शायद तीस वर्ष तक पाँच-पाँच रुपये छमाही उन बहे हुए खेतों का लगान न देना पड़ेगा। जमीन की उनकी पैमाइस अवश्य नहीं पैदा होगी।"

(३)

कुछ दिन बाद आस-पास के गाँवों में सहसा एक कौतूहल उत्तेजना-सी फैल गई। एक जर्मन को जंगल के पतरौल ने पकड़ा। उसे देखने के लिए गाँव लोग दौड़ पड़े। वह जंगल की चौकी पर केवल एक दिन रहा। फिर आस-पास के गाँवों के प्रधानों को बुला कर, उनकी सहायता से पतरौल उसे पटवारी के पास ले गया। पटवारी ने उसे हथकड़ी पहनाई, और तहसीलदार के पास भेज दिया।

उस एक दिन की उस जर्मन बन्दी की उपस्थिति से झूला के मुंह से सुनी बातों में एक सजीवता-सी आ गई। वह बन्दी देहरादून के जर्मन बन्दी-शिविर से भागा था। पैदल पहाड़ी रास्तों पर होता हुआ, वह इतनी दूर पहुँच गया था। लोग उस बन्दी को भय-मिश्रित श्रद्धा की दृष्टि से देखने लगे। "वह अँगरेज अफसरों की भाँति वर्ण में गोरा है, पर हाथ जोड़ कर 'राम, राम' कहता है। कहता है, 'हमारे जर्मन पुरखा और हिन्दुस्तानियों के पुरखा एक ही थे। जर्मन लोगों का सब से बड़ा अफसर हिटलर न माँस खाता है, न शराब पीता है।' सलाम का वह उत्तर नहीं देता।"

इस घटना के बाद देहाती कल्पना ने झूला की सुनाई उन समुद्र-पार के देशों की कहानियों को नये, अतिरंजित आवरण-से पहना दिये। लोग जर्मनी की ऐसी-ऐसी बातें कहने लगे, मानो वह पास ही धौली के उस पार कोई बड़ी बस्ती हो। खेतों में घास छीलते, जंगलों में भेड़ें चराते, वे कहते—"अँगरेज शायद हार जायँ।

उनका दुश्मन बहुत शक्तिशाली है। उसके पास अच्छे-अच्छे हथियार और बड़े-बड़े विमान हैं। उसकी तोपें पहाड़ों के आर-पार भी अपने गोलों से छेद कर सकती हैं। पर अँगरेज हार गए, तो हम पर और हमारे जैसे अनेक भारत के गाँवों पर आपत्तियाँ आ पड़ेंगी। झूला कहता है, 'हारे हुए देश में रहने से मरना अच्छा है।'

झूला भी अपनी कही बातों की विकृत और अस्पष्ट प्रतिध्वनि सुनता, और मन-ही-मन जाने कैसा अभिमान-सा अनुभव करता। चरवाहों की आवाज़ जिस प्रकार पहाड़ पर गूंज कर, फिर अस्पष्ट-सी होकर लौट आती है, पर आवाज़ देने वाला शीघ्र ही उसे अपनी ही आवाज़ समझ कर, उस विकृति का विचार भी नहीं करता, ऐसी ही वे जर्मन और जापानी लोकोक्तियाँ थीं, जो वह यदा-कदा अपने ही श्रोताओं से सुनता। सुन कर हँस देता।

जाड़े के दिनों में जब धौली का जल बहुत कम हो गया, और पहाड़ों पर जमी बर्फ कठोर और स्थिर हो गयी, तो झूला को एक नयी तरकीब सूझी। उसने एक तैरनेवाला लड़का धौली के उस पार भेज दिया। नदी के सबसे कम चौड़े पाट पर बड़ी-बड़ी खूटियाँ गाड़कर, रस्से बाँध दिये गये। इन खूटियों के किनारे घिरियाँ लगा दी गई, और उन घिरियों के किनारे-किनारे पतली रस्सियाँ नदी के इस तार से उस पार तक तान दी गईं। इस प्रकार अब साधारण तैराक भी रस्सियों के सहारे उस पार चला जाता, और उन घिरियों पर तनी रस्सियों पर गाँव भर की टोकरियाँ खिच कर उस पार चली जातीं। दो ही घंटे में जोशीमठ में एक आदमी उन्हें बेंच भी आता। आस-पास के गाँव वाले अब उसी मार्ग से जाने लगे और जब वे झूले के मकान के आँगन से गुजरते, तो वह कभी-कभी हँसता हुआ, कहता—"देखा, झूले का झूला? यह जापानी है। जैसे सब जापानी मा [illegible] ते हैं, वैसे ही यह भी कमजोर और दिखावटी है। इस पर ज्यादा जोर न देना। बस मजे से चले जाना धीरे-धीरे।"

अपने झूले पर लोगों को उतरते और अपनी टोकरियों को उतारते जब झूला देखता, तो उसका हृदय भी हर्ष से झूलने-सा लगता। कभी-कभी वह टोकरी

का सब साज-सामान छोड़कर, आँगन में अखरोट के पेड़ के सहारे खड़े होकर, रस्सियों के प्रकम्पन पर गुनगुनाता, और लहरों के साथ उछलती हुई खाली टोकरियों की थिरकन के साथ सिर भी हिलाता जाता।

(४)

उस वर्ष जाड़ा असाधारण रूप से कठोर था। झूला का बूढ़ा बाप बीमार पड़ा, और उसके जीने की आशा न रही। दिन-प्रति-दिन उसकी दशा बिगड़ती ही जाती थी। घर में खाकी और ऊनी कपड़े तो बहुत थे, पर बूढ़े के अन्तिम दाह-संस्कार के लिए कपड़ा न था। झूला इसी चिन्ता में था, कि एक रात सचमुच बूढ़े की आँखें सदा के लिए बन्द हो गयीं। पड़ोस के लोग सुनते ही, आ-आकर एकत्रित होने लगे। सुबह होते ही, झूले ने एक आदमी को उन्हीं रस्सों के सहारे धौली के उस पार भेजकर, अपने मृत पिता की सद्‌गति के लिए तीन-चार गज लट्‌ठा अथवा और कोई अच्छा कफ़न का कपड़ा लेने भेज दिया। बाप-बेटे की बनाई टोकरियों के विक्रय से आयी पूंजी इन चार-पाँच महीनों में पचास रुपए के लगभग पहुँच गयी थी। पिता की अन्त्येष्टि के लिए इससे बड़ी रकम की आवश्यकता थी। झूला उधार लेकर भी अपने पिता का अन्तिम संस्कार सम्मानपूर्वक करना चाहता था।

दोपहर के बाद जोशी मठ और उससे भी आगे वह आदमी कई कपड़े की दूकानों का चक्कर लगाकर खाली हाथ घर लौटा, तो मारे क्षोभ और ग्लानि के झूले का मुंह मलिन हो गया। वह फूट-फूट कर कभी अपनी असमर्थता पर और कभी उन दूकानों के अस्तित्व की व्यर्थता पर रोने लगा। आदमी ने बतलाया, कि बिना पुर्ज़ो के कोई कपड़ा नहीं मिलता, और पुर्ज़ी मिलती हैं, सौ मील दूर डिप्टी कमिश्नर के दफ्तर से। और दूकानों में केवल पहाड़ी गुदमों, लोइयों और ऊनी पट्टूओं के और कुछ नहीं है।

कोठरी के अन्दर जाकर, फिर सब पिटारों और गठरियों को उलट-पलट कर झूला देखने लगा। पास-पड़ोस में कोई भी इतना सम्पन्न न था, जिसके पास ऐसे अवसर के लिए कपड़ा उधार देने को हो। स्त्रियाँ भी जाड़े के कारण उन

पहाड़ों पर मोटी, काली, ऊनी चादर का चोगा-सा पहनती थीं, और सिर पर बहुत छोटी ओढ़नी। बाहर लोग अर्थी ले जाने के लिए जल्दी मचा रहे थे, और अन्दर झूला रोता-बिलखता, अपने उन चीथड़ों से मानो युद्ध-सा कर रहा था। उन गठरियों में एक सफेद-से वस्त्र पर झूले का हाथ जा लगा। यह पल्टन से लाई हुई मच्छरदानी थी। अब तक ज्यों-की-त्यों रक्खी हुई थी। दो-तीन झटकों में ही उसने उसके चँदवे को जाली से अलग कर दिया। जाली अच्छी और घनी बुनी हुई थी, उसमें रेशम की सी चमक थी। चँदवा सात फुट लम्बा था, और वह जालीदार कपड़ा तो बीस फुट से कम न था। दोनों चीजें लेकर, झूला कछुवा-सा रेंगता, अर्थी के पास आ गया। कपड़े को देख, लोगों की आँखें चमक उठीं।

एक व्यक्ति बोला—"झूला, क्या तुम जादू जानते हो? कहाँ से इसी क्षण इसे ले आये?"

दूसरे ने कहा—"तब क्यों इतनी अबेर की? कपड़ा मँगाने की जरूरत क्या थी? इतना ढेर-सा कपड़ा तो घर के ही अन्दर निकला।"

चँदवा खूब चौड़ा था। उसमें अर्थी लपेट दी गयी और रेशमी कपड़ा ऊपर से डाल दिया गया। झूला भी नदी-किनारे पौलों के सहारे चल कर गया, और शव के जलमग्न किए जाने के बाद सब के साथ लौटा। यद्यपि बूढ़े बाप की अर्थी के साथ इतने अधिक लोग थे, जितने उस गाँव में आज तक किसी के मरने पर एकत्रित न हुए होंगे, और कफ़न भी अनुकूल ही था, लेकिन झूला एक असह्य ग्लानि-सी लेकर घर लौटा। "जब कोई देश हारने लगता है, तो उसकी सभी वस्तुएँ नष्ट होने लगती हैं। वहाँ अन्न, वस्त्र, सभी वस्तुओं की कमी पड़ने लगती है। अँगरेज़ सरकार हार अवश्य गई है, या उसके हारने के ये पूर्व-लक्षण हैं। नहीं तो क्या मरने वाले को कफ़न भी दुष्प्राप्य होता!" यह बात धीरे से अवरुद्ध कंठ से उसने अपने पास-पास चलने वाले बूढ़े बन्नू बारुड़ी से कही।

"तुम ठीक कहते हो," धन्नू ने कहा—"अवश्य ऐसा ही कुछ हो रहा होगा।"

झूला की वह बात फिर उस गाँव के एक छोर से दूसरे छोर तक पहुँच गयी।

लोग कानाफूसी करने लगे, कि 'अवश्य अँगरेज़ सरकार हार गयी है, या अब उसकी हार के लक्षण स्पष्ट हैं।'

प्रति दिन लोग उत्सुकता से इस समाचार की पुष्टि की प्रतीक्षा करते। हार-जीत की, अथवा जर्मन या जापानी के आगमन की बात न सब से कही जानी चाहिए, और न खुले आम उसे कहना चाहिए, यह बात झूला ने अपने सभी श्रोताओं से कह रक्खी थी; फिर भी आस-पास के गाँवों में ये समाचार पहुँच ही जाते।

माघ के अन्त में झूला तहसील के खजाने में अपनी पेनशन लेने गया। पौलों के सहारे इतनी दूर, ऐसे तंग पहाड़ी मार्गों पर चलना सरल न था, इसलिए उसने तीन रुपये प्रति दिन मजदूरी देना तय कर के, पास के गाँव से एक कंडीवाले मजदूर को ले लिया। अपनी पीठ पर कंडी बाँध उसी में झूला को बैठा कर, वह तीन दिन में तहसील पहुँचा। पेनशन ले ली। दो सौ से भी अधिक रुपया था। झूला अपने लिए एक चादर, धोती, नमक, और चीनी खरीद कर ले जाना चाहता था। पर ये वस्तुएँ तो क्या, उसे उस रात खाने तक को न मिला। ज्ञात हुआ, कि सब लोगों के लिए पुर्जी बनी है। पुर्जी में लिखा हुआ राशन ही मिलता है। एक दूकान पर फीकी चाय और कुछ पकौड़ियाँ खाकर, उसने और उसके मजदूर ने वह रात काटी। और सब वस्तुएँ तो ऐसी आवश्यक न थीं। खाना भी एक-दो जून न मिलता, तो वे दोनों चिन्ता न करते, पर नमक ले जाना आवश्यक था। वहाँ पाँच रुपये फी छटाँक भी नमक न मिला।

अगले दिन सुबह जब पेनशन के उन रुपयों को, जिनका मूल्य अब सिंगापुर में जापानी जीत के उपरान्त झूला की समझ में कुछ विशेष न था, लेकर वह मजदूर की पीठ पर सवार हो, गाँव की ओर चला, तो सोचने लगा, 'अद्भुत रहस्य की बात है। कोई ज़बान खोल कर नहीं कहता, कि हमारी सरकार हार गयी है, फिर भी हारे हुए देश से भी बुरी दशा इस शहर और इन गाँवों की है। पलटन में सिपाहियों को तो राशन मिलता ही था, अब सिविलियनों के लिए भी नाप-तोल कर खाना मिलने लगा। यह हार के लक्षण नहीं, तो क्या है! अब ये व्यर्थ के रुपये क्या होंगे! कागज के इन नोटों से न अन्न मिलता है, न कपड़ा ही।

फिर यह पेनशन लेने और देने का ढोंग ही क्यों !'

मार्ग में झूला को एक दूसरा सैनिक मिला। वह जिले के सदर खजाने से पेनशन ला रहा था। सैनिक अपने साथ दो सेर नमक भी लाया था। उसने बतलाया, शहर में नमक की एक-दो दूकानें हैं। खरीदने वालों को लाइन बाँध कर, घंटों खड़ा रहना पड़ता है। बारी आने पर, एक सेर नमक दे दिया जाता है। तीन दिन तक इसी प्रकार खड़े रहने पर दो बार में उसे दो सेर नमक मिला। झूला ने एक पुराने कम्बल के बदले में आधा नमक उससे ले लिया। लड़ाई की बात से वह सैनिक भी उतना ही अनभिज्ञ था, जितना झूला। लेकिन उसने एक नयी बात बतलायी—"सदर खज़ाने में पेनशनरों से चन्दा लिया जा रहा है। खजानची कहता था, कि सरकार जीत गयी है। जीत के लिए उत्सव होगा। उसी उत्सव के लिए चन्दा लिया जा रहा है।"

"कौन सरकार जीती है ?" झूला ने कहा—"जीतने पर तो स्वयं सरकार को ही रुपया-पैसा इनाम देना चाहिए, न कि दूसरों से उसे माँगना चाहिए।"

"हाँ," उस सैनिक ने कहा—"यह मेरी समझ में भी नहीं आया। पर मैं दो रुपये दे आया। खजानची ने शायद मुझे ठग लिया हो। उस दिन लड़ाई की बातचीत करने पर एक हवलदार को पकड़ लिया गया था। मैंने भी इसी-लिए ज्यादा पूछ-ताँछ नहीं की।"

झूला थोड़ी देर चुप रहा। सोचता रहा, 'यदि सरकार जीत ही जाती, तो इतना कष्ट जनता को क्यों होता ? क्यों अन्न-वस्त्र का यह भयंकर अभाव होता ? क्यों रात भर एक सरकारी पंगु सैनिक और उसके कुली को भूखों रहना पड़ता ? अपने पुराने सेवकों, विशेषतः मुझ-जैसे असहाय, लुंज लोगों के लिए, जिन्होंने उस सरकार की सेवा में अपने शरीर के अंग भी अर्पण कर दिये, खाने-पहनने की, कुछ चिन्ता तो उसे होनी थी।' फिर वह बोला—"जीत ऐसी आसान नहीं है। लड़ाई यदि एक जगह पर हो रही हो, तो कहा भी जा सकता है, कि सरकार जीत गयी। पर जल, थल और आकाश के अनेक समर-क्षेत्रों में सरकार की विजय हो जाय, और तब भी यह संकट विद्यमान रहे, यह असम्भव है। कहीं एक-दो

जगहों में अवश्य हमारी सरकार जीत गई होगी।'

"जाने भी दो," दूसरा सैनिक कुछ घोड़े वालों को आता देख, बोला—"लड़ाई की बात छोड़ो। कोई अच्छा-सा पहाड़ी गीत सुनाओ, जिससे यह कठिन चढ़ाई कटे।"

(५)

तीन दिन बाद जब झूला अपने गाँव पहुँचा, तो उसने देखा, कि धौली पर वह रस्सियों का झूला न था। पटवारी ने आकर उसे काट दिया था। खम्भे भी उखाड़ दिये गये थे। डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के इंजीनियर ने जोशी मठ से खाली टोकरियों को धौली के ऊपर तैरते देख कर, पटवारी को बुलाया था, और पुल तोड़ देने का हुक्म दिया था। बिना उनके हुक्म के और बिना बोर्ड को चुंगी दिए ऐसा पुल बना देना जुर्म था।

झूला उस रात सो न सका। उसकी समझ में नहीं आया, कि ऐसी आज्ञा क्या सरकारी आज्ञा हो सकती है! अपनी मेहनत से अपनी लकड़ियाँ और अपनी ही रस्सियाँ लगा कर, गाँव वालों ने जो पुल बनवाया, उसे सरकार ने क्यों तुड़वा दिया? गाँव वालों के लिए जो चीज इतनी उपयोगी थी, वह सरकार को क्यों इतनी कष्टदायी हुई? नदी का कल-कल शब्द रात्रि की निस्तब्धता में उसकी घबराहट को उत्तरोत्तर बढ़ाता ही जा रहा था। थोड़ी देर के लिए आँख लग जाती। ऐसी ही क्षणिक नींद में उसने स्वप्न देखा, वह पुल पर बैठा है। पानी बढ़ता आया। रस्सियाँ डूब गयीं। उसके पौले भी डूबने लगे। दोनों ओर खूटियाँ मानो लाज-भरी मुस्कान से झूला के चिर-परिचित गहरे स्नेह के संबन्ध को स्वीकार कर रही थीं। झूले ने अपना शरीर लहरों पर डाल दिया। वह लहरों की भाँति स्वयं भी पेंगे मारने लगा, और फिर वह कूद कर, एक खूंटी पर टिक गया।

दूसरे क्षण फिर उसकी नींद खुल गयी। नदी का कल-कल शब्द उसी के हृदय में बजने लगा। वह सोचने लगा, 'मैंने ठीक-ठीक नहीं देखा। संध्या समय मुझे नदी पर साफ-साफ़ कुछ भी नहीं दिखलाई दिया। पुल अब भी वहीं पर वैसा

ही बँधा होगा। वह उठ गया और हाथों के बल रेंगता हुआ, आँगन में चला आया, फिर धीरे से अखरोट के तने के सहारे खड़ा हो गया। उस ओर से नदी का जो कल-कल निनाद हवा में तैरता आ रहा था, उसे आकर्षित हो सुनने लगा। अँधियारे में पानी पर उछलती बूंदें अथवा लहरों का ऊर्मिल जल कभी नदी में एकाएक चमक पड़ता, और उसे पानी पर सरकती टोकरियों का भ्रम हो जाता। वह एक-टक उसी स्थान की ओर देखता रहा। देर तक के उस जागरण से उसे विभ्रान्ति के कारण कभी सारा पुल ज्यों-का-त्यों दीख पड़ता, कभी उस पर तैरते हुए व्यक्ति बोलते-से भी लगते। फिर सब-कुछ मिट जाता।

निर्जन रात्रि का अन्धकार गहनतर होने लगा। झूला रेंगता हुआ, अपनी कोठरी में चला गया। पिता के मरने के बाद आज पहिली बार उसे अपने अकेले-पन पर डर-सा लगने लगा। 'मैं अब किस भाँति अपने काम में जी लगा सकूंगा? किस प्रकार इन इतने गाँव के लोगों के सम्मुख निकल सकूंगा? एक अपाहिज, भिखमंगे में और मुझमें अब अन्तर ही क्या रह गया है? मेरा नाम झूला था पर मैं था अपूर्ण। मेरे लुंज शरीर का पूरक, मेरी लज्जा का आवरण तो वही था। दोनों ही मिल कर "झूला" कहलाते थे। मैं अब कहाँ भाग जाऊँ? क्या सब छोड़-छाड़ कर जोशी मठ चला जाऊँ, और किसी मन्दिर के किनारे बैठ कर यात्रियों से भीख माँगा करूँ?'

फिर शान्त होकर, वह पुलों के विषय में सोचने लगा। घाघरा और यमुना के पुल, हावड़ा का पुल, माँडले के पास छिनविन नदी का पुल, सिंगापुर के चाय के बगीचों के पास वह विशाल जोहर पुल, सब एक-एक कर के, उसके मस्तिष्क में आये। एकाएक उसकी कल्पना में एक बात चमक उठी। उसने अब तक सोचा भी न था, कि लड़ाई के दिनों में पुल बड़े महत्व की वस्तु है। जब शत्रु निकट हो, तो उसे उसका मार्ग रोकने के लिए पुल तोड़ दिये जाते हैं। आज जो इस गाँव का झूला तोड़ा गया, वह पटवारी ने अपने ही आप नहीं तोड़ा। सरकारी आज्ञा ऐसी होगी। यह भी अँग्रेज सरकार की गिरती हुई दशा का परिचायक है। हो सकता है, कि शत्रु कहीं निकट हवाई जहाज से उतर गया हो। हो सकता है

और भी पुल तोड़े गये हों। यह उसकी नासमझी थी, कि युद्ध की चालें जानते हुए भी, वह अब तक इस भेद को न समझ सका, और मन-ही-मन इतना उद्विग्न हो गया।

कई दिन तक लोग झूला के आँगन से होकर अपनी टोकरियाँ लिये पुल की ओर जाते, और निराश होकर फिर लौट आते। झूला कभी चुप रहता, और स्वयं उनकी निराशा में अपनी मूक समवेदना प्रकट कर देता, और कभी उन्हें थोड़े से शब्दों में समझा देता, कि लड़ाई के दिनों की बातें ही रहस्यमय होती हैं। शत्रु के मार्गों को रोकने के लिए ऐसा काम आवश्यक होता है।

फागुन के महीने से गाँवों में बूढ़ों, बच्चों, सभी के लिए नये कपड़े बनने लगते थे। चैत के महीने से नया वर्ष आरम्भ हो जाता था। तब घर में प्रत्येक प्राणी के लिए नये कपड़े का न मिलना अशुभ माना जाता था। बहुओं के लिए भी उनके मैके से नये वस्त्रों के साथ कुछ-न-कुछ सौगात फागुन के अन्त तक माता-पिता-द्वारा भेज दी जाती थी। बादी लोग घर-घर जाकर, गीत गाते थे, जिसका आशय होता—

'मधु ऋतु आ गयी।'

जंगलों में बुरुंश के फूल फूल गये, और वन लाल-लाल हो गए।

श्यामल, कृषिपूर्ण खेतों ने भी सरसों के फूलों के पीत वस्त्र पहिन लिए।

ए नववधू, तेरे मायकेवालों ने, अच्छी सौगात भेजी है।

उसे देख कर तेरी ससुराल के लोग तृप्त नहीं होते, और फिर-फिर कर देखने लगते हैं।'

वस्त्राभाव के कारण उस वर्ष न तो बहुएँ सौगात पा सकीं, और न नये वस्त्र ही बन पाये। होली का त्योहार भी फीका-फीका-सा रहा। बूढ़ों की भाँति युवक और युवतियाँ, सभी अब उसी काले कम्बल के चोगे पर निर्भर रहने लगे, जैसे शायद पीढ़ियों पहले उनके पुरखे इन कन्दराओं में रहते थे।

कुछ सप्ताह के उपरान्त पहाड़ के उस पार पर्वत के गाँवों में झंडे फहराये जाते दीख पड़े। संयुक्त प्रान्त के प्रत्येक जिले के गाँव-गाँव में प्रान्तीय धारा

सभा के लिए चुनाव की तैयारियाँ हो रही थीं। जोशी मठ की ओर भी सभाएँ हुई। एक ओर कोई कांग्रेस नेता खड़े थे, और दूसरी ओर थे डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के कोई राय बहादुर चेयरमैन। उरगम गाँव तक कोई नहीं पहुँचा। वह तो अपने नाम के अनुसार सदा सब के लिए दुर्गम ही रहा। प्रधान के पास परचे डाक से आये थे। उन्हें पतरौल ने पढ़ कर, समझाया, "सरकार की ओर से खड़े हुए हैं राय बहादुर साहब, और कांग्रेस की ओर से अमुक नेता हैं। पुर्जियाँ अमुक तारीख को पड़ेंगी। तब हार-जीत ज्ञात होगी।" चुनाव की तैयारियों की अस्पष्ट-सी गूंज आस-पास के गाँवों से उरगम की चट्टानों पर भी प्रतिध्वनित हो जाती।

एक दिन सहसा किसी दूसरे गाँव के आदमी ने बतलाया, कि सरकार हार गयी, और कांग्रेस जीत गयी। यह चुनाव के विषय में था। उरगम के गाँव वालों ने इसका यही अर्थ समझा, कि लड़ाई में अंग्रेज सरकार हार गई, और किसी जापानी या जर्मन संस्था की विजय हुई है। सब लोग सशंकित और चौकन्ने होकर रहने लगे। पुल टूट जाने से गाँव का सम्बन्ध धौली के उस पार के गाँवों से तो टूट ही गया था, इस पार भी केवल एक रास्ते के अतिरिक्त और सब रास्ते झूले की आज्ञा के अनुसार बन्द कर दिए गए। सब से अन्तिम मकान धन्नू बारुड़ी का था। उसे आज्ञा दी गई, कि जो कोई गाँव में आना चाहे, तो उससे पूछ लिया जाय, कि वह किस काम से आना चाहता है और प्रधान को उसके आने की तुरन्त सूचना दी जाय।

कुछ दिनों के उपरान्त सदा की भाँति पटवारी फिर लगान वसूल करने आया। घूम-फिर कर वह बड़ी कठिनाई से धन्नू के दरवाज़े पर पहुँचा। उसे आश्चर्य हुआ, कि धन्नू ने सदा की भाँति झुक कर प्रणाम क्यों नहीं किया। न वह उसके पीछे-पीछे ही चला। उलटे उसने कहा—"पटवारी, तुम यहीं रुक जाओ। मैं प्रधान को तुम्हारे आने की खबर दे दूं।"

"क्यों, साथ-साथ वहीं क्यों नहीं चलता ?" पटवारी ने आगे कदम बढ़ाते हुए, कहा—"यहाँ पर बैठ कर तुझ बारुड़ी से मुझे क्या लेना है ?"

धन्नू ने रास्ता रोक लिया। कहा—"यह नहीं हो सकता! गाँव वाले

मुझे मार डालेंगे। बिना प्रधान को खबर दिए और झूला से पूछे, मैं तुम्हें एक कदम भी न बढ़ने दूंगा।"

"वे कौन होते हैं, जो मेरा आना यहाँ रोक लेंगे?" पटवारी ने कहा—"तू क्या पागल हो गया है? लगान-वसूली के लिए आया हूँ।" और वह धन्नू को धकेल कर, आगे बढ़ गया।

पर धन्नू ने एक ही झटके में उसे गिरा दिया, और हाथ खींच कर वहीं पर फिर घसीट कर डाल दिया। बोला—"पटवारी तुम जब थे, तब थे। अब तुम्हारी वह सरकार हार गयी है। लगान किस बात का?"

फिर गले में बँधी उस चाभी से धन्नू ने जोर की सीटी बजायी। पड़ोस में रहने वाला कालू दौड़ा आया, और पटवारी को देख कर, प्रधान और झूला को सूचना देने चला गया।

पटवारी को गाँव में आने की आज्ञा दे दी गयी, पर लगान देने से सब ने इन-कार कर दिया। झूला ने कहा, कि वह तो हरगिज एक पाई भी न देगा। जो खेत वर्षों पहिले नष्ट होकर बह गये, जिनका अब कहीं अस्तित्व ही नहीं, उनका लगान अँग्रेज सरकार को देना मुनासिब भी था, पर अब तो स्वयं पटवारी के कहने के अनुसार सरकार बदल रही है, सो अब क्यों लगान दिया जाय?

"इसके लिए तुम अर्जी भेज दो," पटवारी ने कहा—"शायद लगान न लिया जाय।"

झूला ने कहा—"हम पढ़ना-लिखना नहीं जानते। हम इतना ही जानते हैं, कि जो जमीन है ही नहीं, उसका लगान हम नहीं देंगे। इसका लगान चाहो, तो ले जाओ।"

पटवारी अपने अपमान से जला-भूना बैठा था। बोला—"सरकारी काम से आया हूँ। भीख तो माँग नहीं रहा हूँ। पूरा लगान देना हो, तो दे दो, नहीं तो वसूल करना सरकार जानती है। एक-एक को पिटवा कर वसूल करूँगा।"

यह धमकी भी काम न आयी। बही हुई जमीन का लगान देने को कोई तत्पर न था।

पटवारी ने फिर कहा—"लगान न दोगे, तो मैं तो लौट जाऊँगा, पर याद रखना, वसूल करने फिर पुलिस आयेगी। तब तुम्हारी इस लुंज की हेकड़ी निकल जायगी।"

झूले ने कहा—"सरकार बदल गयी है।"

और लोगों ने भी तालियाँ बजा कर कहा—"गवर्नमेंट तो हार गई है।"

(६)

दो सप्ताह बाद गाँव पर आधी रात को तहसीलदार और पटवारी कुछ बन्दूकधारी सिपाहियों-सहित आ धमके। बन्नू, प्रधान और झूला को गिरफ्तार कर लिया गया।

आज तक कभी इतनी बन्दूकें और इतने बड़े-बड़े अफसर इस गाँव में न आये थे।

'रात-ही-रात यह आक्रमण कैसा ?' गाँव के बालक, स्त्रियाँ तथा सभी पुरुष उत्सुक नेत्रों से, दोनों हाथों में हथकड़ी पहने झूला की ओर देख रहे थे, पूछते-से, कि 'ये आक्रमणकारी हैं कौन ? किस सरकार के ये कर्मचारी हैं ?' पर वह कुछ न बोलता। चुपचाप गम्भीर मुद्रा बनाये, हथकड़ी पहिने, अपने और दो साथियों की ओर रह-रह कर देख भर लेता।

उजाला हो जाने पर, पटवारी ने और लोगों को हुक्म दिया, कि वे अपना-अपना लगान ले आयें, नहीं तो उन्हें भी गिरफ्तार कर लिया जायगा।

पर गाँव वाले टस-से-मस न हुए। वे झूला की ओर उत्सुक नेत्रों से देखते रहे।

झूला पहली बार पटवारी को सम्बोधित कर के बोला—"आप लोगों ने हथकड़ियाँ मुझे व्यर्थ पहनायी हैं। बिना पाँवों के मैं भाग कर कहाँ जाऊँगा ? लगान देने की बात है, तो मैं अभी सारे गाँव का लगान वसूल करके ले आता हूँ।"

इतनी आसानी से झूला नम्र पड़ कर लगान देने को तत्पर हो गया। पटवारी हथकड़ी के प्रभाव पर मन-ही-मन प्रसन्न हुआ। उसने आपत्ति नहीं की। झूला की हथकड़ियाँ खोल दी गयीं।

अपनी कोठरी के सामने जाकर, झूला सोचने लगा, 'कागज के वे नोट, जो

पेंशन में मिले थे, और तो किसी काम आते नहीं हैं। लगान में उन्हें दे देने में कोई हानि नहीं।' और फिर लोगों की ओर मुड़ कर, उसने धीरे से फुसफुसा कर कह दिया—"निश्चय ही हमारी सरकार के ये नौकर नहीं हैं। सिंगापुर में भी बहुत से पुराने बर्मी और चीनी, जापानियों की नई सरकार के नौकर हो गये थे। ऐसे ही अत्याचार वे पुराने सिपाहियों और साधारण जनता पर करते थे। हमारी सरकार हार गयी है, अब इसमें सन्देह नहीं।"

अपनी कोठरी के अन्दर से सब-के-सब रुपये लाकर, उसने पटवारी के सम्मुख रख दिये। कहा—"यह लो सारे गाँव का लगान। और भी कुछ जुर्माना वसूल करना चाहो, तो इसी में से ले लो। लेकिन धन्नू और प्रधान को छोड़ दो। वे तो निर्दोष हैं। मैं सिपाही हूँ। और सरकार के विरुद्ध यदि प्रचार हुआ, तो वह मेरे ही द्वारा हुआ। मुझे जो चाहो, करो।"

पटवारी ने रुपये गिने। चार सौ के लगभग थे। गाँव भर का लगान सत्तर के लगभग होता था। तीनों मुलज़िमों की नकद जमानत भी सौ-सौ की ले ली जाय, तो भी रुपये बाकी बचते थे। और उस लुंज को सौ मील उस पहाड़ी सड़क से नजदीक के जेल तक पहुँचाना आसान न था।

अपनी बात उसने तहसीलदार को समझा दी। तहसीलदार ने भी स्वीकृति दे दी।

झूला फिर अपनी कोठरी के अन्दर गया। दोनों डेहरियों को उसने छू कर हिलाया, तो सदा की भाँति भारी और स्थूल थीं। फिर दीवार के सहारे खड़े होकर, उसने छप्पर पर लगे उस तख्ते की ओर झाँका। टोकरी बनाने का सामान ठीक-ठीक रक्खा हुआ था। अपना पलटन से लाया वह बक्स टटोला। कपड़ों को यथा-स्थान रख कर, तिरछी टोपी और बरान कोट को पहन लिया। घुटनों के बल सारी कोठरी में वह बालकों की भाँति प्रसन्नता से रेंगता हुआ, दोनों पौले लेकर बाहर निकला, और किवाड़ बन्द कर के, कुंडी चढ़ा दी।

फिर वह पटवारी के पास आया। धन्नू और प्रधान के अँगूठे उस समय किसी लिखे हुए कागज पर लगाए जा रहे थे।

"मैं जरा नदी की ओर हो आऊँ, पटवारी जी ?" उसने पूछा।

पटवारी ने बिना उस ओर देखे, कहा—"हाँ, पर जल्दी आना। मुझे तेरा बयान लेना है।"

"पौलों के सहारे चलने से देर हो ही जाती है, पटवारी जी। पर मैं क्या भाग सकता हूँ ?" झूला बोला।

पटवारी ने लिखते-लिखते कहा—"हाँ, हाँ, जानता हूँ। पर देर न लगाना। मैं तेरे लिए बैठा न रहूँगा।"

झूला नदी पर उस स्थान तक गया, जहाँ खूटियाँ थीं। फिर आगे बढ़ा। चट्टान का वह अन्तिम किनारा मिला। वह बढ़ता ही गया। ठीक किनारे घुटनों के बल खड़े होकर, वह चिल्लाया—"भाइयो, हारे हुए देश में जीकर रहने से मरना अच्छा।" और फिर अपने शरीर को दोनों पौलों पर झुला कर, वह उनसे सदा के लिए बिछुड़ कर, बीच नदी में कूद गया।

हथकड़ियों के खुलते ही, धन्नू नदी की ओर दौड़ा। झूला की वह वेश-भूषा देख कर, उसका माथा ठनक गया था।

उसके नदी तक पहुँचते-पहुँचते झूला का गोल-मटोल शरीर क्षण भर पानी में चक्कर लगा कर, सदा को लुप्त हो गया। थोड़ी देर में खाकी-सी कोई वस्तु लहरों पर उछल कर ऊपर आई। यह केवल बरानकोट था। धन्नू ने दूर-दूर तक दृष्टि दौड़ाई। पर कहीं कुछ न था। झाड़ियों के किनारे वह तिरछी टोपी पड़ी थी।

"झूला डूब कर मर गया !" धन्नू ने आवाज़ दी।

लोगों ने सुना, और यही शब्द दुहराये।

"मर गया ?" पटवारी ने कहा।

"आश्चर्य है !" तहसीलदार ने कहा—"हम तो उसे माफ़ी दे देते।"

"अच्छा, तब एक पंचायतनामा भी बना दीजिए।" बन्दूकधारियों में से एक ने कहा।

यद्यपि तहसीलदार ने उस दिन जरगास के लोगों को देश के राजनीतिक परि-

वर्तन का पूरा दिग्दर्शन करा दिया, और बाद में और भी लोगों से उन्होंने सुना कि अँगरेज सरकार की जीत हुई है, और भारत को स्वतन्त्रता मिल गयी है, पर क्या ये उनके विश्वास करने योग्य बातें थीं ? उनके दिन तो और भी बुरे कटने लगे। दिन-प्रति-दिन 'पराजय' के कुप्रभाव स्पष्ट होने लगे। बालकों के लिए वस्त्र दुष्प्राप्य हो गये। फटे हुए, तार-तार वस्त्रों के चीथड़ों को जोड़ कर, स्त्रियाँ अपने तन ढकतीं। नमक महीनों प्राप्त न होता। गुड़ और शक्कर केवल कल्पना की वस्तुएँ रह गयीं। टोकरियाँ बेच कर कागज के रुपये आते। ढेरों जमा हो जाते, पर उनका उपयोग उन सूखे पत्तों से भी कम था, जो खाद के काम तो आते हैं। वे सदा अपने निपट-नैराश्य में झूले की कही बातों को याद करते, और कहते—"पराजित देश के निवासियों की दशा ऐसी ही हो जाती है !"

दो चित्र

चित्रकार घर छोड़ एकाएक चल दिया। न उस स्कूल के अध्यापक ही जान सके, कि वह लम्बी छुट्टी लेकर कहाँ जायगा और न उसके वे विद्यार्थी ही, जिन्हें वह चित्रकला की शिक्षा देता था।

उस दिन सुबह की गाड़ी में बैठ, जूते और मोजे खोल कर, दोनों पाँव सामने की बर्थ पर, बीच में पड़े बिस्तर के बण्डल के उस पार डालते हुए, सिरहाने अटैची का सहारा लेकर नित्यानन्द—यही उस चित्रकार का नाम था—आँखें मूंद लेट-सा गया। गाड़ी चलने में अभी देर थी। सामने उसकी चित्रकारी को प्रेरणा देने वाला न कोई दृश्य था, और न उस समय उसका मन ही इतना व्यवस्थित था, कि वह किसी चित्र की रूप-रेखा का मन-ही-मन निरूपण कर सके। वह तो अपने वैवाहिक जीवन से उकता कर, अपनी पत्नी से कुढ़ कर अपनी छोटी लड़की के तोतले प्रश्नों का उत्तर दिये बिना जा रहा था। सोच रहा था, कि वह सप्ताहों, महीनों और वर्षों तक घर से बाहर ही रह कर अपनी नई योजना के अनुसार एक उच्च कोटि का चित्रकार बनेगा! अब तक के अपने इने-गिने चित्रों के कारण ही उसे जो ख्याति मिली है, वह उसके एक सफल चित्रकार बनने का परिचय देती है। चित्रकारों की उस नगरी में प्रसिद्ध कलाकारों के मध्य रह कर, थोड़े ही समय में वह अपार यश कमा लेगा। तब ऐसी बेमेल नारी से उसे कुछ प्रयोजन ही न रहेगा।

फिर वह सोचने लगा, 'हाँ, यह दाम्पत्य जीवन कितना दुःखमय है। कैसी बेमेल, विपरीत स्वभाव की जीवन-संगिनी मुझे मिली है। उसे चित्रकला से किंचित् प्रेम नहीं। मेरे उन चित्रों की दिल्ली में प्रदर्शनी हुई थी। उनके फोटोग्राफ़ समाचार-पत्रों में छपे थे। बड़े-बड़े कुशल कलाकारों की प्रशंसाएँ उन्हीं चित्रों के विषय में निकली थीं। पर इन सब से उसे क्या प्रयोजन! वह तो अस्व-

बार उठा कर कभी देखती भी नहीं। पड़ोस में कई मासिक और पाक्षिक पत्रिकाएँ वकील साहब की पत्नी के पास आती हैं। दूकान में बड़े भाई एक दैनिक पत्र रोज पढ़ते हैं। उनमें भी मेरे चित्रों के वर्णन छपे थे। उसमें किसी ने यदि कहा भी होगा, कि तुम्हारे पति के चित्रों की यह प्रशंसा छपी है, यह उनका बना चित्र निकला है, तो मुंह फेर कर बैठ गई होगी। और दिन चाहे वह अखबार उठा भी लेती हो; पर उस दिन, यह कहे जाने पर, कि अखबार में मेरा वर्णन छपा है, उसने सप्ताह भर तक फिर कोई अखबार उठाया भी न होगा।

'लज्जा ? नहीं, लज्जाशीलता की इसमें बात ही क्या है ? यह है उसका अनोखा स्वभाव और अनोखी भावनायें। हिमालय का वह सुन्दर चित्र मैंने बनाया था। उसे तो वह भली भाँति समझ सकती थी। कई बार मसूरी गयी है। कोई निरी अनपढ़ नारी भी उसे देख कर रंगों के उस चित्रण से अप्रभावित नहीं रह सकती। परन्तु उसके लिए तो वह एक कोरा कागज सिद्ध हुआ। बना चुकने के उपरान्त, सप्ताह भर के परिश्रम के बाद, उस शाम मैंने उसे वह चित्र दिखलाया था। पहली दर्शिका थी वह। पर उस भली औरत के मुंह से यह भी तो न निकला, कि अच्छा दीखता है। आश्चर्य-मिश्रित कटाक्ष से एक बार उस ओर देख वह फिर मेरे भोजन की व्यवस्था करने चली गई थी। मुझे भी उसने उसी चित्र की भाँति निर्जीव जन्तु समझ लिया---भावनाहीन, आश्चर्य की एक वस्तु मात्र !

'उस चित्र के बनाने में, मैं रात-दिन कैसा तल्लीन रहा, यह बात उससे छिपी न थी। उन दिनों मैं सोते-सोते भी नीलाकाश पर प्रतिबिम्बित श्वेत श्रेणियों के उस प्रतिबिम्ब को देखता रहता था। उस चित्र का कितना बड़ा प्रभाव मेरे मस्तिष्क पर पड़ा था ! कभी-कभी तो खाते-खाते मैं उन्हीं नील और श्वेत रेखाओं में उलझ जाता और रोटी खाने की इच्छा हुई, तो चावल, और चावल खाने की इच्छा हुई तो, साग के लिए संकेत कर बैठता था। कितना उत्कृष्ट चित्र बना था वह ! पर उसकी उतनी बड़ी उपेक्षा देख कर मैं अपने उस परिश्रम को विफल ही समझ बैठा था। कला के पारखियों ने उस चित्र की यथोचित प्रशंसा न की होती,

तो उस नारी की उपेक्षा मेरे चित्रकला-कौशल के स्रोत को ही सुखा देती।

'हिमालय का वह चित्र उसे पसन्द न आया हो, पर उसके उपरान्त तो मैं जन-कला के उस संग्रह में जुट गया था। वह तो औरतों की ही कला है। देहलियों पर, विवाह-मंडप पर, जो शुभ-सांकेतिक चित्र देहातों में बनते हैं, नवग्रह-पूजा, देवी की उपासना तथा ज्योति-पूजा में जो स्वस्तिक रेखाएँ खींची जाती हैं, स्त्रियों की वह चित्रकला मैंने सीखी। बड़े-बड़े भारतीय तथा विदेशी पत्र-पत्रिकाओं में वे चित्र छपे। पर उसे यह भी न रुचा। ऐसे चित्रों की प्रकाशित पुस्तकें, 'फोक आर्ट कलेक्शन्स बाई नित्यानन्द' (नित्यानन्द का ग्राम्य कला-संग्रह) अब भी मेरे कमरे में रक्खा है। पर उसके लिए यह भी कुछ महत्व नहीं रखता। हिमालय के चित्र से भी अधिक उसने उसकी उपेक्षा की।

'दूध लाने वाले उस बूढ़े ग्वाले का चित्र भी तो मैंने बनाया था। वह किस प्रकार ठीक उतरा था! बड़े भाई उस चित्र को देख फड़क उठे थे। ग्वालिन की आँखों में आँसू आ गए थे। पर मालती,—मुझे इस नाम से ही मतली आती है—उसे रंगों का एक धब्बा-मात्र समझी होगी। एक बार केवल एक दृष्टि उस पर डाल कर वह फिर उस ओर गई भी नहीं।

'जाने भी दो इस सब को! पर रमेश के कमरे की मेज पर पड़े उस फूलदान और उसमें रक्खे फूलों का वह चित्र कितना आकर्षक था! उसे मैंने एक ही घण्टे में बना डाला था। रमेश की पत्नी ने उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की थी। मैंने मालती को उसे दिखलाया था और साहस कर के पूछा था, कि कैसा बना है। वह कुढ़ कर बोल उठी थी—"मैं क्या जानूं?" हाँ, सीधी-सादी बात में भी कभी-कभी वह व्यंग का काँटा लगा समझती है। उसके उत्तर तो बहुधा 'क्या' और 'क्यों' से ही आरम्भ होते हैं।'

गाड़ी कब और कैसे चल पड़ी, अपने विचारों की उलझन में नित्यानन्द को कुछ भी ज्ञात न हुआ। एक ओर पटरियों पर थिरकती गाड़ी की आवाज़ सररर-डूं-सररर-डूं कर रही थी, और दूसरी ओर वह सोचता जा रहा था, 'पहले मालती ऐसी अरसिक नहीं ज्ञात होती थी। उसका सौम्य स्वभाव, उसका

भोलापन और उसकी वह पीत-कालिमा-सी ज्योतिर्मयी मुद्रा मेरे ऊपर एक अनोखा आकर्षण डाल देती थीं। हाँ, पिता जी की सम्पत्ति का मुकदमा हुआ था। मालती के पिता हमारी ओर से वकील थे। मुकदमे का निर्णय हो गया था, पर मेरा आना जाना वकील साहब के पास जारी रहा। मालती मुझ से परदा नहीं करती थी। वह अपने पिता की सहायका-सी उनके कहने के अनुसार पुस्तकों को सजा कर रख देती थी। सब कानूनी पुस्तकों के नाम और नम्बर उसे ज्ञात थे। अदालत से लौटने पर वही उन्हें यथा-स्थान रखती थी। जो पुस्तकें न लौटी होतीं, उनकी सूची बाहर की बैठक में मुंशी के पास भेज देती थी। मेरे अन्दर चले जाने पर वह झिझकती तो न थी; पर उसने कभी मेरी ओर आँख उठा कर भी न देखा था। उसकी नजरों में शायद मैं एक मुवक्किल से अधिक न था।

'वकील साहब आर्ट्स कालेज में मेरे सर्वप्रथम उत्तीर्ण होने की बात जानते थे; पर शायद उन्होंने यह बात कभी मालती से कही न थी। उस दिन स्कूल में ड्राइंग-मास्टर का स्थान रिक्त होने पर उन्होंने मुझे उस स्थान के लिए अर्जी देने को कहा था। वे उस स्कूल के मैनेजर थे। उस दिन मालती ने पहली बार मेरी ओर देखा था। और तब मुझे ऐसा भास हुआ था, मानो अपनी एक ही दृष्टि में उसने मेरे सब गुण-दोषों को तौल कर मेरा मूल्यांकन सा कर दिया। मैं ने सोचा, शायद वह समझने लगी है, कि उसके पिता जिस स्कूल के मैनेजर है, उसी में एक अध्यापक होने के योग्य यह मुवक्किल नहीं है। पर मेरा विचार, उपरान्त उसी से ज्ञात हुआ, ठीक न था।

'प्रति दिन का वहाँ आना-जाना अपना प्रभाव लाता ही था। भाभी ने पूछा था—"वकील साहब की लड़की क्या तुम्हें पसन्द है ?" मैं एकाएक समझ भी न पाया, कि मालती से, और उसी के पिता, वकील साहब से भाभी का तात्पर्य है। मैं हक्का-बक्का-सा निरुत्तर खड़ा रह गया था।

'शायद मेरी अप्रतिभ मुद्रा देख कर ही, भाभी जी ने कहा था—"तुम्हें वह लड़की पसन्द है, यह जान कर ही विवाह की बात कर ली गयी है। दद्दा सब ठीक

कर आये हैं। माँजी को सम्बन्ध स्वीकार है!" अब मैं समझा, कि मेरे मन की वह गूढ़तम बात, जिसे मैं अपने ही तक सीमित रखना चाहता था, जिसे अपने ही मुँह से कह कर स्वयं अपने ही कानों से सुनने का भी साहस मुझे न होता था, इतनी दूर पहुँच कर अंत में ऐसा अप्रत्याशित और प्रत्यक्ष रूप धारण कर रही है। मैं मालती को प्यार करता हूँ या नहीं, यह कौन जानता था? उससे बात करने तक का अवसर तो कभी मिला नहीं था। वे भावनायें तो हाड़-माँस के प्रत्येक तरुण मनुष्य में अपनी समवयस्क रूपवती कुमारी के सामीप्य से स्वयं उत्पन्न हो जाती होंगी।

'पर मेरी भावनायें निश्चय ही बड़ी प्रबल थीं। मैं उन दिनों कैसा उद्वेलित-सा घूमता रहा! उस दिन भाभी की बात सुन कर कमरे के बाहर निकलते ही मेरा मन प्रसन्नता से ऐसा नाच रहा था, कि कभी तो नीलाकाश में तैरते मेघों के साथ उड़ने को चाहता और कभी पक्षियों के कल्लोल की नकल करने को। मालती के साथ मेरा विवाह होगा, यह बात, यही सन्देश चारों ओर से मेरे कानों में आ रहा था। शाम को मैंने उस चित्र को बनाना आरम्भ किया था। ऊँचे-ऊँचे वृक्षों से घिरे उस पर्वत के मध्य से वह झरना गिरता था। नीचे चट्टान पर दो मृग खड़े थे। वे मृग कौन थे, और जीवन का वह सतत परिचालित जल-प्रपात किसके अनवरत स्पन्दनशील भविष्य का प्रतीक था, यह शायद मैं ही जानता था। मालती में उसे समझने की क्षमता कहाँ?

'उस चित्र को बनाने की बात तीन वर्ष पुरानी हो गई है। बीच में इन छत्तीस महीनों के अपार दिनों का व्यवधान है। पर यह व्यवधान एक गहरे अन्धकारपूर्ण गर्त्त-सा इस ओर वर्तमान है, उस ओर केवल वे स्मृतियाँ, कि विवाह के पूर्व के वे थोड़े-से दिन और उस चित्र की वे बातें ही बहुत निकट और स्पष्ट लगती हैं। चित्र बनाते समय मैं बिना सोचे-समझे गुनगुनाता रहता था। मेरी वे भावनायें क्या इसी मालती के प्रति थीं? मेरे अन्तस्तल से उठ-उठ कर वे भावनायें संगीत, हास्य और चपल संलाप में अनायास ही तैरने लगती थीं। वह चित्र मेरा प्रथम चित्र था, जिसमें मुझे अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति

मिली। सचमुच वह मेरे कुशल चित्रकार होने का प्रथम संकेत था। देहली की प्रदर्शनी के उपरान्त वह लंका गया था, फिर लंदन की 'आर्ट गैलरी' में। क्यों न होता, जब मैं उस चित्र को बनाने में तल्लीन था, एक दुर्लभ सौन्दर्य-मूर्त्ति का अनपेक्षित नैकट्य, मेरी भावनाओं का वह अवरोध, मेरी उँगलियों पर आकर मेरी तूलिका द्वारा उस चित्र पर रंगों और छाया के रूप में अंकित हो रहा था। वह चित्र मेरी तत्कालीन भावनाओं के अन्तर्दर्शन-सा ही मुझे ताकता है। अब मैं उसे देखता हूँ, तो मानो अपने मन के एक्स-रे फोटोग्राफ को देखता हूँ।

'पर वैवाहिक जीवन में न तो उस निर्झर की-सी स्वच्छता आई और न वह अविरल स्पन्दनशीलता। वैवाहिक जीवन के स्वप्न वास्तविक जीवन से कितने भिन्न होते हैं! वास्तविकता कभी स्वप्नों का अनुसरण नहीं करती। मुझे शीघ्र ही यह ज्ञात हो गया, कि नारी-जीवन का स्वप्नमय चित्रों से कोई सामञ्जस्य नहीं। और, मालती का स्वभाव तो मेरी उन स्वप्निल आकांक्षाओं के समीप भी न पहुँचेगा। वह तो मुझे मेरे चित्रों सा ही रंग-बिरंगा किन्तु शुष्क कागज समझती है। उसका स्वभाव ऐसा शुष्क क्यों हो गया? उसके भोलेपन के भीतर शीतल कठोरता है। वह पीत मुद्रा, जिसकी लालिमा अब जा चुकी है, उसके मन की निर्जीवता की ही द्योतक है। मैं बार-बार उसे उत्साहित करने और उसके जीवन को सुखमय बनाने का प्रयत्न करता हूँ; पर उस पर तो सुख-दुख कुछ भी प्रभाव नहीं डालते।

'हाँ, मुझे इस लड़की से छुटकारा पाना ही होगा। अब निर्वाह नहीं हो सकता। उसे कुछ दुख न होगा। स्वभाव से ही वह वीतराग है। पिछले सप्ताह मैं उससे बिलकुल नहीं बोला। लेकिन क्या वह दुखित हुई? बिलकुल नहीं! मेरी उपेक्षा की अवधि के साथ-साथ उसके मन की शीतलता मानो और भी कठोर होती गई। मेरी इच्छा का यह प्रतिबिम्बित प्रभाव मुझे ही दुःख देने लगा। अब मैं उससे दूर हो जाऊँ, तो यह दुराव मुझे ही खलेगा। वह तो इसे मेरी इच्छा मात्र समझ कर इसका विरोध न करेगी। माँ है, वह उसे छोड़ सकती है। मकान भी है, उसी में वह रहती रहेगी, यही सोच कर, कि मुझे

यही स्वीकार है। अपना अलग अस्तित्व तो मानो इस नारी का है ही नहीं।'

उस शाम चित्रकार अपने पुराने सहपाठी और अभिन्न मित्र रमेश के पास टिका। रमेश इंजीनियर था। उसकी पत्नी सुशीला भी एक शिक्षित और सम्पन्न परिवार की लड़की थी। चित्रकार को रमेश के परिवार के सभी व्यक्ति और नौकर भली भाँति जानते थे। वह बहुधा अपनी छुट्टी के दिन इसी परिवार में आकर काटता था। दुःख और आपत्ति के दिनों में भी अपने हृदय का बोझ इसी दम्पत्ति के सम्मुख हलका करता था। अपनी ख्याति का बहुत कुछ श्रेय इसी पति-पत्नी को हो, यह बात सदा उसे याद रहती थी।

जिस समय नित्यानन्द रमेश के बँगले के पास पहुँचा, पति-पत्नी मोटर में बैठ कर कहीं बाहर जाने को तत्पर थे। उनकी वेश-भूषा और मधुर प्रेम संलाप सुन कर नित्यानन्द को सहसा अपने दाम्पत्य जीवन की याद आ गई। वह बड़ा खिन्न और उदास हो गया। संकोचशील स्वभाव के कारण अपने इस अभिन्न, चिर परिचित मित्र के समीप पहुँचने पर भी उसे एक प्रकार की घबराहट होने लगी। ताँगे के आगे बढ़ते ही रमेश ने उसे पहचान, जोर से पुकार कर कहा—"आओ, भाई नित्यानन्द! . . . सुशीला, देखो, चित्रकार आखिर आज आ ही टपके।"

नौकरों को चित्रकार का सामान उस कमरे में, जिसमें उसे सदा टिकाया जाता था, रखने का आदेश देकर रमेश ने बाहर जाने की विवशता के लिए क्षमा चाही और थोड़ी देर में ही लौट आने का वचन दिया। मित्र की वह वास्तविक प्रफुल्लता देख कर चित्रकार को मानो स्मरण हुआ, कि वह कहाँ है। थोड़ा-सा मानसिक प्रयत्न कर के उसने रमेश की पत्नी सुशीला की ओर अपनी आँखों को मुड़ने से बरबस रोका कि शायद उस सुसंस्कृता नारी की ओर देखने से फिर अपनी पत्नी का स्मरण उसे हो आयगा और वही खिन्नता और उसी अकारण क्रोध के चिह्न उसकी मुद्रा पर आ जायेंगे। वह सीधे रमेश की ओर देखता रहा और शीघ्र वैसी ही वास्तविक प्रफुल्लता स्वयं अनुभव करने लगा।

तब पीठ मोड़ कर नौकर को चाय आदि की आज्ञा देती हुई सुशीला की ओर मुड़कर उसने अभिवादन किया और उस मधुर-मधुर परिचित सुगन्ध से, जो सुशीला को इतनी प्रिय थी और जिसे वह सदा व्यवहार में लाती थी, उसके मस्तिष्क की सारी उदासी उड़ गई।

उन दोनों के मोटर में बैठ कर चले जाने पर नित्यानन्द अपने कमरे की ओर गया। दुतल्ले पर सब से अन्तिम कमरा उसका था। रमेश ने उस कमरे का नाम ही 'नित्यानन्द' रख दिया था। मार्ग में पहला ही कमरा देख कर नित्यानन्द का हृदय प्रसन्नता से नाच उठा। यह कमरा कुछ ही दिन पहले खुले बरामदे को बन्द करा के उसी की योजना के अनुसार बनवाया गया था। आइनों पर हलका नीला और हरा रंग किया गया था। सामने वे दो बड़े चित्र थे, जो उसी के बनाये थे। उन चित्रों की चौखटें उसी प्रकार गोलाकार मोटी लकड़ी की बनायी गयी थीं, जैसा वह समझा गया था। कुर्सियों की गद्दियाँ, तख्त पर मसनद, परदे, रेडियो की ओढ़नी सब उसी की योजना के अनुसार काढ़े और रंगे गये थे।

'कला का सम्मान करना जानता है यह दम्पत्ति।' नित्यानन्द मन-ही-मन कहने लगा, 'सुशीला चित्रकला में अनभिज्ञ होने पर भी इतनी शीघ्रता से कला की सूक्ष्म-से-सूक्ष्म बातों से परिचित हो जाती है। रमेश को तो अपने ओवरसीयरों, पुलों और सड़कों के निर्माण से ही अवकाश नहीं मिलता होगा। इस सजावट का श्रेय है उसकी योग्य पत्नी को। यह है जीवन, यह है सुख और यही है घर! हाँ 'घर', जिसे अँगरेज़ी में 'होम' कहते हैं। मेरा होम कहाँ? मैं तो दीवारों से घिरे निर्जीव मकान में रहता हूँ। मैं हूँ, माँ है, पत्नी है और लड़की है। सारा परिवार है; पर जीवन नहीं है, सुख नहीं है और न कला को पहचानने की क्षमता।'

उस शाम चित्रकार के वैराग्य की काली छाया रमेश के सुखी परिवार पर भी आ गिरी थी। पति-पत्नी जब लौटे, तो वह मधुर हास्य उनकी मुद्राओं पर नहीं था, जो कुछ ही मिनट पहले घर से जाते समय दीख पड़ता था।

"यह सम्भव नहीं है।" रमेश कह रहा था। उसके दोनों हाथ 'स्टीयरिंग पहिये पर जकड़े हुए-से दीख रहे थे।

मोटर के रुकने पर फाटक को जोर से खोल, फिर उतनी ही निर्दयता से बन्द करते हुए जमीन पर कूद कर सुशीला कहने लगी—"आप अपनी इच्छा का मुझसे बरबस पालन कराना चाहते हैं! मैं अवश्य उस कान्फरेंस में भाग लूंगी।"

मोटर 'पोर्टिको' के अन्दर खड़ी कर के रमेश बोला—"तुम्हारे सम्मुख दो मार्ग हैं। दोनों में से एक ही पर चलना सम्भव है। चाहो तो पारिवारिक बन्धनों से मुक्त होकर संगीत ही से यश-उपार्जन करो और चाहे फिर परिवार में रह कर पुत्र और पति के प्रति अपने कर्तव्य का पालन करो।" फिर किंचित मुस्करा कर वह बोला—"बताओ, तुम्हें क्या पसन्द है—संगीत-सम्राज्ञी होना अथवा मेरी हृदय-सम्राज्ञी?"

सुशीला ने रुआँसी हो कर कहा—"पारसाल उस कान्फरेंस में मुझे जो सफलता मिली थी, उसी से प्रोत्साहित होकर मैं इस वर्ष भी वहाँ जाना चाहती थी। यदि मैं जानती, कि आप इस का इतना विरोध करेंगे, तो मैं पारसाल ही उस प्रतियोगिता में भाग न लेती। अब दो वर्ष लगातार ट्राफी के मिल जाने पर तीसरे वर्ष उसे अपने हाथ से कैसे जाने दूं?"

"पिछले वर्ष संगीत-सभा इसी शहर में हुई थी।" रमेश ने सीढ़ियों पर चढ़ते हुए कहा—"यदि तुम यह कहो, कि मैं इस वर्ष भी छुट्टी ले कर तुम्हें कान्फरेंस में भाग लेने जयपुर ले चलूं, साथ में लल्लू और आया भी हो, तो यह कैसे सम्भव हो सकता है?"

"मैं निश्चय ही जाऊँगी।"

"जाओ, पर मैं मोटर न भेजूंगा और न लल्लू ही तुम्हारे साथ जायगा।"

तब तक सीढ़ियों के सिरे पर नित्यानन्द आ गया था। रमेश ने अभी-अभी अपनी पत्नी से हुए वार्त्तालाप की पूर्ण अवहेलना कर के कहा—"हाँ, भाई चित्रकार, देखो तुम्हारी राय के अनुसार हमने ये कमरे सजाये हैं।"

चित्रकार ने कहा—"यही तो मैं देख रहा हूँ। अब सारा कमरा कलापूर्ण ढंग से सजा है।"

पियानो और मृदंग आदि वाद्य-यन्त्रों को कोने पर करीने से सजा देख कर नित्यानन्द ने कहा—"संगीत का सब सामान मौजूद है। क्या सुशीला जी यमन या श्याम कल्याण के कुछ राग न सुनायेंगी ? शाम का समय तो तुम्हारा पहले की भाँति संगीत में ही कटता होगा।"

"हाँ-हाँ।" रमेश ने अपनी पत्नी की ओर मुड़ कर देखा और कहा—"सुनाओ न कुछ ! म्यूजिक कान्फरेंस के लिए कुछ अभ्यास और हो जायगा।"

प्रबल पुरुष द्वारा अपनी इच्छा के ठुकराए जाने पर अबला नारी के हृदय में चिर प्राचीन काल से जिस रोष का प्रादुर्भाव हो उठता है, उसी के वशीभूत होकर अभी सीढ़ियों पर चढ़ते-चढ़ते सुशीला सोच बैठी थी, 'मैं अकेली जयपुर नहीं जा सकती। मुझे पति की आज्ञा के आगे सिर झुकाना ही पड़ेगा। पर जब तक इस घर में रहूँगी, इन वाद्य-यंत्रों को छुऊँगी नहीं।' इसीलिए पति को कोई गीत सुना देने की यह बात उसे तीक्ष्ण व्यंग-सी असह्य लगी। पर नित्यानन्द की उपस्थिति का ध्यान रख कर उसने धीमे से कहा—"मेरी तबीयत ठीक नहीं है।"

रमेश ने और निकट आकर पत्नी के स्कंध का स्पर्श कर के मन्द-मन्द हँसने का प्रयास करते हुए कहा—"सुना दो न !"

पत्नी ने एक ही झटके में पति का हाथ झटककर अलग कर दिया। क्रोध का एक आवेग उसे सिर से पैर तक एकाएक तप्त-सा कर गया। उसके पाँव काँपने लगे। वह सामने कोच पर धम्म से बैठ गई।

नित्यानन्द उसकी मनोदशा से अनभिज्ञ था, बोला—"सचमुच आपकी तबीअत कुछ खराब जान पड़ती है। आँखें भी सुर्ख लगती हैं।"

रमेश ने व्यंगपूर्ण मुस्कराहट से कहा—"देखें, बुखार तो नहीं है !" और पत्नी की कलाई अपने हाथ में लेनी चाही।

रमेश के बढ़े हुए हाथ की ओर अनदेखा कर के कोच की दूसरी ओर खड़े

नित्यानन्द की ओर अपना हाथ बढ़ा कर सुशीला ने कहा—"हाँ, कुछ सिहरन-सी ज्ञात होती है। देखिए, कुछ हरारत तो नहीं है ?"

संकोचशील नित्यानन्द ने एक क्षण रमेश की ओर देखा और दूसरे ही क्षण सुशीला के बढ़े हाथ को किंचित् छूकर और शीघ्र ही छोड़ते हुए कहा—"हाँ, आप आराम कर लें।" ये शब्द मानो उसके द्वारा कोई दूसरा ही व्यक्ति कह रहा था। सुशीला तत्काल उठकर अन्दर चली गई।

पत्नी के अन्दर चले जाने पर चित्रकार को कोच पर बिलकुल अपने निकट बैठाकर रमेश बोला—"भाई, बुखार-उखार कुछ नहीं; संगीत-सम्मेलन में जाने की धुन सवार है। मेरा जीवन कितना दुःखमय है, और तुम्हारा जीवन कितना सुखमय और शान्त! पत्नी तो तुम्हारी भी पढ़ी-लिखी और अच्छी गायिका है, पर उसे यश की कोई अभिलाषा नहीं। मैं सुशीला से कहता हूँ, कि उसे संगीत-प्रिय नहीं यश-प्रिय है। वह चाहती है, अपना काम-काज छोड़कर मैं भी उसकी इस यश-प्राप्ति में सहायता करूँ। परसाल इसी चक्कर में आकर वह अवसर खोया। अब तक मैं एक्जीक्यूटिव इंजीनियर हो जाता। पर सुशीला ने उस म्यूजिक-कान्फरेंस में जाने की ज़िद की। एक माह की छुट्टी लेनी पड़ी। इसी बीच वह स्थान रिक्त हुआ और माथुर हाथ मार ले गया। पर सुशीला को इसका कुछ भी अफ़सोस नहीं; वह तो प्रसिद्ध गायिका होकर वहाँ से लौटी। तीन सौ रुपये प्रति मास की वेतन में यह कमी, सुशीला को खलती नहीं। तुम्हीं बतलाओ, केवल यश और ख्याति के सहारे तो जीवन-निर्वाह नहीं हो सकता।"

प्रश्न-सूचक दृष्टि से रमेश ने उत्तर की आशा से नित्यानन्द की ओर देखा; पर वह स्वयं अपनी पत्नी और अपने ही घर छोड़ने की बात सोच रहा था।

रमेश कहता गया—"ख्याति या प्रसिद्धि-प्राप्त व्यक्ति में यह क्षमता नहीं होती कि वह आत्म-निर्भरता का जीवन यापन कर सके। उसे प्रतिक्षण दूसरे के ही ऊपर निर्भर रहना पड़ता है। कला के उपासक सदा भूखे मरते हैं। संगीत, साहित्य, चित्रकला, विज्ञान—किसी में प्रसिद्धि पा लेना ही पर्याप्त नहीं है। स्वयं टैगोर को इतनी ख्याति पा लेने पर अपने शान्ति-निकेतन के संचालन

के लिए दूसरों का मुंह ताकना पड़ा था। फिर स्त्री के लिए तो यह सदा असम्भव है। उसका स्थान वस्तुतः घर ही है। मुझे इस समय तुम्हारे ससुर की एक बात याद आती है। उस समय मालती आठ-नौ वर्ष की बालिका थी। वकील साहब की पत्नी का देहान्त हो चुका था। मालती उनकी बैठक में ही बैठा करती थी। बहुधा मुवक्किलों के आने पर उनकी बातों में तल्लीन हो जाती थी। घर के अन्दर उससे बोलने वाला बुढ़िया दादी और नौकरों के अतिरिक्त परिवार का कोई व्यक्ति न था। प्रीतम—वह मशहूर डाकू—छूटकर आया था और वकील साहब को धन्यवाद देने उनके घर पर गया था। हम लोग भी कौतूहलवश वकील साहब के यहाँ उसे देखने पहुँच गये थे। बैठक में अच्छी खासी भीड़ जमा हो गयी थी।। मालती ने उस समय एक अनोखा प्रश्न कर दिया। वह बोली—'बाबूजी, आपने ऐसे खतरनाक व्यक्ति को जेल से क्यों छुड़ा दिया? डाकू को सजा होनी ही चाहिए।'

"सब लोग सन्न रह गये थे। वकील साहब को भी अपने मुवक्किल का यह अपमान और उसी के सम्मुख, बड़ा असह्य प्रतीत हुआ होगा। पर वे शान्त प्रकृति के थे। बोले—'बेटी, मेरा काम था बहस करने का; मैंने बहस की। जज ने फैसला लिखा। उसका यही काम था। जेलर ने हुक्म पाया और प्रीतम को छोड़ दिया। वह उसका काम था। तुम्हारा भी काम तुम्हें बतलाया गया है लोगों की बात न सुनकर, केवल कानून की इन पुस्तकों को उठाकर तरतीब से रख देना।' फिर उन्होंने किंचित् रोष से लड़की की ओर देखा। मालती के दोनों हाथ कानों पर थे। लोगों के बीच में बोलने पर उसे यह सजा मिलती थी। दूसरे ही क्षण वह उन पुस्तकों को लेकर दूसरे कमरे में उन्हें क्रमवार रखने चली गयी।

"सचमुच तुम्हारी पत्नी का सौम्य स्वभाव और कौतूहलहीन गम्भीरता उसी शिक्षा का फल है। यदि स्त्री को सभी वकील, सभी पुलिस के कर्मचारी अथवा सभी राजनीतिज्ञ अपने प्रतिदिन के कार्यों में हस्तक्षेप करने की स्वतंत्रता दे दें, तो कितनी धूर्तता, कैसा छल और कैसा मिथ्याचार प्रतिदिन घर के ही अन्दर हमें मिलने लगेगा! मैं तो सोचता हूँ, दाम्पत्य जीवन तभी सुखमय हो

सकता है, जब पुरुष और स्त्री दोनों भिन्न-भिन्न स्वभाव के हों; एक-दूसरे के कार्यों का क्षेत्र कहीं भी पर्यच्छादित न हो।

"तुम अपनी ही बात सोचो। यदि चित्र बनाते-बनाते तुम्हारी पत्नी आकर कहे—यह रंग ठीक नहीं बैठा, यहाँ रेखाएँ अकृत्रिम हैं, तो तुम कभी किसी चित्र को पूरा नहीं बना सकते। अपनी कला के स्वच्छन्द विकास के लिए तुम्हें तो ऐसी जीवन-संगिनी की आवश्यकता है, जो तुम्हारे चित्रों की ओर आँख उठाकर भी न देखे। तुम बड़े भाग्यशाली हो कि मालती अपने पिता की शिक्षा के अनुसार इसी मार्ग पर चलकर उन उत्कृष्ट चित्रों के प्रति अपनी सतत जिज्ञासा का अवरोध करती रहती है। यह कम कठिन साधना नहीं है।"

नौकर के आने पर रमेश चुप हो गया और यह जानकर कि खाना लगा दिया गया है, बोला—"चलो, शायद तुम्हारे कहने पर सुशीला खाना खा ले।"

\+ \+ \+

उस रात नित्यानन्द सो न सका। सुशीला के उस व्यवहार और रमेश की उन बातों को वह अनेक प्रकार से घुमा-फिराकर अपने मन में दुहराता और सोचता, कि वह क्या करे। क्या वह घर लौट जाए? क्या मालती से क्षमा माँग ले? कितना मूर्ख है वह! विज्ञ परीक्षक की भाँति मालती उसके सब गुण-दोषों को, सदा पीछे बैठी-सी ताड़ती रहती होगी, और उन्हें अच्छी तरह जानकर भी अनजान बनने की चेष्टा करती होगी।

अगले दिन रमेश के आग्रह से उसे वहीं टिक जाना पड़ा; पर चारों ओर से वह विषादमय कृत्रिम वातावरण मानो उसे दबोच रहा था। शीघ्र घर लौटकर उस अप्रिय वेदना के बोझ को उतार फेंकने की उत्कट इच्छा के कारण किसी भी आमोद-प्रमोद से उसे तृप्ति नहीं हो रही थी।

अगले दिन सुबह वह फिर अपने घर लौट आया। पत्नी ने उसके लौट आने पर किञ्चित् आवेग या कौतूहल प्रदर्शित नहीं किया। वह सदा की भाँति नियमित रूप से अपने काम-काज में लगी रही।

पर नित्यानन्द को उसकी निश्चेष्ट प्रकृति में एक नया आकर्षण ज्ञात हुआ। दो ही दिन की अनुपस्थिति के उपरान्त सारा घर एक नए सौरभ और उल्लास

से परि-पूरित-सा उसे ज्ञात हुआ। मालती उसके निकट आकर फिर उसके विस्तर और अटैची को यथास्थान रखकर रसोई की ओर चल दी। आज पत्नी की आँखों में पहली बार उसे जान पड़ा, एक ऐसी तरल ज्योति चमक रही है, जिसकी अनोखी चमक से वह अब तक मूर्खतावश अनभिज्ञ ही रहा है।

उसी समय उसकी लड़की ने आकर उसकी धोती पर लिपटते हुए अपनी तोतली वाणी में कहा—"बाबू जी, कहाँ गये थे ?"

चित्रकार ने उसे गोद में उठा लिया और अपनी चित्रशाला में जाकर अपने उस 'निर्झर और युगल मृगों" के चित्र की ओर संकेत करके बोला—"मैं ऐसा ही सुन्दर एक और चित्र बनाने के लिये गया था। शायद वह इससे भी अच्छा बनेगा। उसमें एक तुम्हारी माँ जैसा विज्ञ परीक्षक पीछे खड़ा, डेस्क पर बैठे मुझ जैसे अबोध परीक्षार्थी के प्रश्नोत्तर पर मुसकराता दीख पड़ेगा।"

बालिका कुछ न समझी; पर मालती जो दरवाजे पर चाय और नास्ता लिए खड़ी थी, बोली—"चाय पी लीजिए, फिर आप तसवीर बनाने में जुट जाएँगे, तो दिन भर खाने-पीने की भी याद न रहेगी।"

स्नेहोल्लास में चित्रकार ने कहा—"हाँ मालती, आज मैं एक और उत्कृष्ट चित्र बनाऊँगा, उसका नाम होगा—परीक्षक और परीक्षार्थी। पर इससे तुम्हें क्या, तुम तो अपनी जिज्ञासा का अन[illegible] मेरी कला के विकास में बाधा नहीं डालना चाहती हो, मैं यह सब [illegible]

मालती ने कुछ न कहा। पति [illegible]तकों को उठा[illegible] वह पूर्ण रूप से हृदयंगम भी नहीं कर सकी, बोली—"लाइए, [illegible] दूध पिला दूं। वह आपको काम करने न देगी।"

समाप्त